

मोक्षशास्त्र प्रवचन अष्टम् भाग

चौदहवें सूत्रका प्रकरण प्राप्त सम्बन्ध मोक्षशास्त्रमें मोक्षमार्गका प्रधान प्रयोजन है। मोक्षमार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता। सम्यग्दर्शन नाम है प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना। जो अभ्यास द्वारा, समझाये जाने द्वारा साध्य है उसकी बात कही जा रही है। सम्यग्दर्शन होता है निसर्गसे और अधिगमसे तो अधिगमके उपायोंका इस अध्यायमें वर्णन है। पदार्थका जानना किन-किन उपायोंसे होता है? यह बात इस अध्यायमें बतायी जा रही है। अधिगम होता है प्रमाण और नयोंके द्वारा। यद्यपि व्यवहार और अधिगमके अनेक और भी कारण बताये गए, जैसे निक्षेप, निर्देश आदिक फिर भी मुख्य यह ही है प्रमाण और नय, उनमेंसे प्रमाणका वर्णन चल रहा है। प्रमाण ज्ञानका नाम है और वे ज्ञान ५ हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवलज्ञान। ये सब ज्ञान दो प्रमाणरूप हैं परोक्षप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण। तो इन ५ ज्ञानोंमें आदिके दो ज्ञान परोक्षज्ञान हैं, शेषज्ञान प्रत्यक्षज्ञान है। परोक्षज्ञानोंमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कहे गए, उनमेंसे मतिज्ञानका यह सब प्रसंग चल रहा है। मतिज्ञान ५ जातिके होते हैं सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और स्वार्थानुमान। इनका वर्णन पिछले सूत्रमें किया गया है। अब इस सूत्रमें यह बताया जा रहा है कि वह मतिज्ञान किन-किन कारणोंसे उत्पन्न होता है।

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् ॥ १४ ॥

मतिज्ञानके बाह्यनिमित्तोंके विषयमें विवाद मिटानेके लिये इस सूत्रका अवतार वह मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न होता है, तो स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन ५ इन्द्रियोंका कारण पाकर और मनका कारण पाकर मतिज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ शंकाकार कहता है कि मतिज्ञान तो एक आन्तरिक ज्ञान है और उसका निमित्त है मतिज्ञानावरणकर्मका और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम, सो बात प्रसिद्ध ही है। मतिज्ञानावरणका क्षयोपशम सभी ज्ञानोंमें पाया जाता है। अथवा अनुमान तर्क आदिक ज्ञान ऐसे हैं मतिज्ञानकी जातिमें कि जो इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न नहीं होते। जैसे अनुमान होता है साधन से, साध्यका ज्ञानरूप अनुमान है वह हेतुसे उत्पन्न हुआ, हेतुके ज्ञानसे हुआ और अनुमान तर्कपूर्वक होता है। तर्क प्रत्यभिज्ञानपूर्वक होता, प्रत्यभिज्ञान स्मरणपूर्वक होता, स्मरण मतिपूर्वक होता, मति दर्शनपूर्वक होता तो आखिर रह क्या गया और साक्षात्की बात तो यह है कि इन्द्रिय और मनसे दर्शनसे होगा तो इन सब बातोंके ऐसा विदित होता

है कि यह सूत्र व्यर्थ कहा गया। तो पहली बात देखो कि मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे होता है सो सभी मतिज्ञानोंमें यह बात है, सो सूत्रका कहना व्यर्थ है और मतिज्ञानके सब भेदोंका निमित्त इन्द्रिय मन नहीं है, इस कारण भी व्यर्थ है, फिर इस सूत्रके कहनेका प्रयोजन क्या है? समाधानमें कहते हैं कि यह सूत्र मतिज्ञानके बाह्य निमित्तोंका प्रदर्शन करनेके लिए कहा गया अर्थात् मतिज्ञानके बाह्य निमित्त क्या होते हैं यह बताया है, क्योंकि अनेक दार्शनिक ज्ञानके बाह्य निमित्तोंपर विवाद रख रहे हैं। कोई कहते हैं कि योगिका प्रत्यक्ष भी, भगवानका प्रत्यक्ष भी मनसे होता है। कोई कहता है कि ज्ञान इन्द्रियकी वृत्तिसे उत्पन्न होते है, ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षसे होता है तो ज्ञानकी उत्पत्तिके साधनोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके मंतव्य हैं लोगों के, इसलिए उसमें विवाद होता है। उस विवादका समाधान इस सूत्रमें किया गया है। क्या किया गया है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ही होता है, पदार्थ से, प्रकाशसे या अन्य प्रकारसे नहीं होता। साथ ही यह भी ध्वनित हो जाता है कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे मतिज्ञान ही होता है। इसमें अनेक दार्शनिक जो भिन्न-भिन्न प्रकारके कारण मानते थे उनका निराकरण है। कोई प्रकाशको कारण मानता, कोई पदार्थको कारण मानता, कोई इन्द्रिय और पदार्थके सम्बंधको कारण मानता, ऐसे अनेक विवादोंका समाधान इस सूत्रमें किया गया है।

सूत्रमें मतिज्ञानकी इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तताका वर्णन इस सूत्रमें दो पद हैं तत् इन्द्रियानिन्द्रिय निमित्त, वह इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है। तो यहाँ तत् शब्द से क्या माना गया है? तत् शब्दसे किसका ग्रहण किया गया है? इन्द्रिय और मनके निमित्तसे क्या होता है? तो उत्तर यह है कि इस सूत्रसे पहले जो शब्द आया हो वह तत् शब्दसे ग्रहणमें आयेगा। इससे पहले सूत्र है मतिःस्मृतिः संज्ञाचिन्ताऽभिनिबोध इत्यनर्थान्तरं, अर्थात् यहाँ अनर्थान्तर शब्द है अगले सूत्रसे पहले। तो तत् शब्दसे अनर्थान्तर शब्दका ग्रहण हुआ अर्थात् मतिज्ञान जो इस अनर्थान्तररूप है, जो मति स्मृति आदिक रूप हैं, वह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है। अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि इससे पहले सूत्रमें तो इन मति आदिक पाँचों ज्ञानोंका समुच्चय करने वाला मतिज्ञान शब्द तो दिया ही नहीं गया। इसमें तो ५ मतिज्ञान विशेष कहे गए हैं तो उनका ही ग्रहण होगा। उस सामान्य मतिज्ञानका ग्रहण कैसे किया जा सकता? और फिर उन पाँचोंमें भी एक मति ही प्रधान है और लोगोंके अनुभवमें भी ऐसा ही आता है कि सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है वह इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होता है और यहाँ तत् शब्दसे उस मति विशेषका ग्रहण होगा।

इसके समाधानमें कहते हैं कि ऐसा नहीं, किन्तु इस सूत्रसे पहले जो शब्द दिया हो वह शब्द ही तत् शब्दसे ग्रहणमें आयेगा। वह शब्द है अनर्थान्तर। और यों तो परम्परया लगाते जावो तो मतिज्ञानके ५ भेदोंमें जो अन्तमें कहा गया आभिनिबोध अनुमान सो उसका ग्रहण होगा। यदि अनर्थान्तरके ग्रहणको गौण कर दिया जाये और उन विशेषोंको लिया जाये तो सबसे अच्छा ग्रहण तो अनुमानका होगा और अनुमानके निकट है तर्क, सो तर्कका ज्ञान होगा आदिक भिन्न बातें

आयेंगी। तो उसका भी समाधान यों करना चाहिए कि आता है तो आने दो या ऐसा ही क्यों सोचे? अनर्थान्तर शब्दसे तो सभीका ग्रहण हो जाता है। सो चाहे मतिज्ञान सामान्य कहो, चाहे समस्त मतिविशेष कहो, वह सब तत् शब्दसे ग्रहणमें आता है। इस प्रकार इस मतिज्ञानके बहिरंग निमित्त कारणोंको दिखानेके लिए यह सूत्र कहा गया है। क्या है मतिज्ञानका वह बहिरंग कारण, सो सुनो-इन्द्रिय और मन उसका निमित्त कारण है। अब इन्द्रिय क्या और मन क्या? इन्द्रियाँ होती हैं दो प्रकार की द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय। जो पौद्गलिक इन्द्रियाँ हैं वे द्रव्येन्द्रिय और क्षयोपशमलब्धिरूप है वह है भावेन्द्रिय। इसी तरह मन, इन सबका वर्णन आगे दूसरे अध्यायमें आयेगा। वे सब मतिज्ञानके निमित्त कारण हैं।

मतिज्ञानोत्पत्तिमें इन्द्रिय व मनकी कारकरूप कारणता अब यहाँ शंका होती है कि इन्द्रिय और मन क्या मतिज्ञानके कारक कारण हैं या ज्ञायक कारण हैं? कारक कारण तो उसे कहते हैं जो उत्पन्न करनेमें साधन बना हो, और ज्ञायक कारण उन्हें कहते हैं जो पदार्थोंका ज्ञान कराते हों। तो इन दोनों कारणोंमेंसे ये इन्द्रिय मन क्या मतिज्ञानके कारक कारण हैं या ज्ञायक? उत्तर इस प्रकार है कि यह कारक कारण है। जहाँ निमित्त शब्द दिया जा रहा हो, जहाँ निमित्त कारण कहा जा रहा हो उसका अर्थ कारक कारण है, ज्ञायक कारण नहीं है अर्थात् यह मतिज्ञान इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर होता है। अब ये पाँचों ही मतिज्ञान विशेष इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होते हैं। इसका योगविभाग करके अर्थ लगे तो सभी इष्ट विशेषोंमें इन्द्रिय और मन निमित्त बनते हैं। अब परम्परया आश्रय करके देखो तो योगविभाग न भी करें तो स्पर्शज्ञान रूपज्ञान, स्मृति, तर्क आदिक सभीमें इन्द्रिय और मनका निमित्तपना घटना है। यहाँ कारण ज्ञायकरूप नहीं माना गया, क्योंकि ज्ञायकहेतु बतानेका यहाँ प्रकरण नहीं है। जो ज्ञायक ज्ञान है वह स्वयं कारकोंसे बनाया जा रहा है। इसलिए वह कारकहेतु है। इस सूत्रका तब शुद्ध अर्थ यह हुआ कि इन्द्रिय और मन है निमित्त जिसका ऐसा वह मतिज्ञान हैं चाहे कोई साक्षात् कारण हो, चाहे कुछ परम्परया कारण हो तथा मनका उपयोग तो सभीमें है, इस कारण ये सब इन्द्रिय और मनके निमित्तपूर्वक कहे जाते हैं। देखा मतिके चार भेद हैं अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सो अवग्रहसे लेकर धारणा पर्यन्त सभी मतिज्ञानके निमित्त कारण इन्द्रिय और मन हो रहे हैं। इसी प्रकार स्मृति आदिक भी अपने ही निमित्त कारण इन्द्रिय और मनसे बन रहे हैं। कहीं इन्द्रिय परम्परासे निमित्त कारण है, कहीं साक्षात् है और सामान्यरूपसे निमित्त कारणोंका विचार किया जाये तो ये सभी मतिज्ञान कारणरूप होते हैं।

सूत्रके दोनों पदोंमें अवधारणका तथ्य अब यहाँ एक शंका और की जा रही है कि यहाँ पद हैं दो तत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तो इसमें अवधारण कहाँ करे याने एवकार कहाँ लगाना चाहिए? तत् एव इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं, ऐसा कहना चाहिए या तत् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं एव, ऐसा कहना चाहिए? याने 'एव' शब्द कहाँ लगाना चाहिए? कहाँ हुआ? समाधान यह है कि एवकारसे अवधारण दोनों जगह किया जाता है। जिससे अर्थ यह बनता है कि मतिज्ञान ही इन्द्रिय और मनका निमित्त

पाकर होता है। दूसरा अर्थ मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियका निमित्त पाकर ही होता है। इन दोनों अवधारणोंसे अनेक रहस्य प्रकट होते हैं। इन्द्रिय, मन, दोनोंका उभयका, युक्तका निमित्त पाकर मतिज्ञान ही होता है, अन्य ज्ञान नहीं। एक अवधारण तो यह हुआ। दूसरा अवधारण है मतिज्ञान, इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर ही होता है। उसका अन्य कारण नहीं है। इन दोनों प्रकारके अवधारणाओं में यदि किसी एकको न माना जाय तो क्या दोष आता है? यदि तत्रमें एव न लगायें तो उसका अर्थ बन जाता है कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे मतिज्ञान तो होता ही है और भी ज्ञान हो जाते हैं। योगियोंका प्रत्यक्ष या सभी प्रकारके ज्ञान, ऐसा अनिष्ट प्रसंग होता है तथा दूसरी जगह अवधारण न लगाया जाये तो उसका अर्थ यह बनेगा कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होता है सो ठीक है, अन्य निमित्तोंसे भी होता होगा। सो अवधारण करनेसे सभी अनिष्ट प्रसंग दूर हो जाते हैं। इसका स्पष्ट विवरण यह है कि ऐसा कहनेसे मतिज्ञान ही इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होता है। इससे तो यह बात बनी कि इन्द्रिय और मनके निमित्तसे मतिज्ञान ही होता है। अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान केवलज्ञान या कुज्ञान ये नहीं होते और जब यहाँ अवधारण लगाया कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ही होते हैं तो जो लोग अर्थसे प्रकाशसे उत्पन्न होना मानते हैं, ज्ञानको उसका निराकरण हो जाता है।

पदार्थके ज्ञानकारणत्वकी मीमांसा अब यहाँ शंकाकार क्षणिकवादी कहते हैं कि ज्ञान तो अनुमानसे ऐसा ही सिद्ध होता है वह पदार्थसे उत्पन्न होता है, पदार्थसे न उत्पन्न हुआ ज्ञान नहीं होता। तो जब प्रत्येक ज्ञान पदार्थसे ही उत्पन्न होते हैं तब फिर इन्द्रिय और मनसे ही होते हैं पदार्थ, अर्थ आदिसे नहीं होते, ऐसा निर्णय बनानेके लिए जो सूत्र कहा यह तो युक्तिसंगत न रहा। अनुमानसे सिद्ध है कि पदार्थ अपनेसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा सम्वेद्य है क्योंकि प्रमेय होने से। इसका तात्पर्य यह है कि अर्थसे ज्ञान हुआ और इस ही ज्ञानसे अर्थ जाना गया तो ज्ञानसे जो अर्थ जाना गया वह ज्ञान उसी अर्थसे उत्पन्न हुआ है, जैसे कि मन। मन और इन्द्रियजनित अनुमानके द्वारा मन और इन्द्रिय जाने जाते हैं। अथवा जैसे जैन सिद्धान्तमें बताया है कि क्षयोपशमजन्य ज्ञानके द्वारा क्षयोपशम जाना जाता है। इस तरह ज्ञान अर्थसे उत्पन्न होता है इसलिए यह निश्चय न बनाना चाहिए कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनके निमित्तसे ही होता है। समाधान कहते हैं कि इस तरहकी व्याप्ति बनानेसे तो अनेक प्रसंग आते हैं।

जैसे सर्वज्ञदेव जितना जान रहे हैं क्या वह सब अर्थोंसे निकालकर जान रहे हैं? भूत, भविष्यत् पर्यायें जो हैं ही नहीं, उनका कैसे ज्ञान होगा? और जान रहे हैं सबको, भूतको भविष्यको भी। अथवा जो स्वसम्वेदन ज्ञान बन रहा है अपने ही ज्ञानके द्वारा अपना ही सम्वेदन किया जा रहा है तो उसके तो क्षण समान हैं, उसी क्षणमें सम्वेदन है, उसी क्षणमें स्वयं है जिसका कि सम्वेदन किया जा रहा है। तो कार्यकारण भाव समान क्षणमें तो नहीं होते। जैसे किसी बछड़ेके दोनों सींग समान समयमें हैं तो उनमें किसीको कार्य और किसीको कारण तो नहीं कहा जा सकता और भी देखो संशयज्ञान

उत्पन्न होता है या विपरीत ज्ञान होता है या कभी आँखसे दो चन्द्रमा दिखने लगते हैं तो न दो चन्द्र हैं और न विपर्ययज्ञानका विषयभूत पदार्थ है और ज्ञान तो उत्पन्न हो गया। तो यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक ज्ञान पदार्थसे ही उत्पन्न होता है। अब यहाँ शंकाकार कहता है कि विपर्ययज्ञानमें तो ज्ञानकी बात यों नहीं कह सकते कि वह सम्यग्ज्ञान नहीं है। हमारा तो यह अनुमान बनेगा कि प्रत्यक्षज्ञान अपने विषयभूत पदार्थसे जन्य है, सम्यग्ज्ञान होनेसे तो विपर्ययज्ञान तो सम्यग्ज्ञान नहीं है, इसलिए अनुमानमें दोष नहीं आता। इसका समाधान यह है कि जो दूसरा अनुमान दिया, जिससे कि विपर्ययज्ञानमें दोष न आये उसमें भी दोष है। सर्वज्ञका ज्ञान भूतकाल और भविष्यकालके सब अर्थोंको जानना है, मगर वह पदार्थ वर्तमान है ही नहीं तो उनसे ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकेगा?

अर्थ और प्रकाशमें आलम्बनरूपकारणताका अभाव शंकाकार कहता है कि इस तरह तो चाक्षुषज्ञानमें आलोक भी कारण न बन सकेगा। चाक्षुषज्ञान प्रकाशसे जन्य है, प्रकाश न हो तो चक्षुसे ज्ञान तो नहीं होता। तो यहाँ दोष मिटानेके लिए यदि यह कहे कोई कि एक प्रकाशको कारण रहने दो, क्योंकि प्रकाश बिना ज्ञान नहीं होता। तो यही बात तो पदार्थोंमें लग जायेगी। पदार्थोंसे भी उत्पन्न हुआ ज्ञान मान लो, क्योंकि हम लोगोंका ज्ञान पदार्थोंसे उत्पन्न होता है। यहाँ इसी विषयपर यह भी विचार कर लेना चाहिए। शंकाकारको कि जैसे वह कह रहा है कि हम हेतुमें सुधार कर रहे हैं, ज्ञानकी जगह सम्यग्ज्ञान कह देंगे और उसमें दोष आता है तो अस्मदादि शब्द और जोड़ देंगे याने हम लोगोंका सम्यग्ज्ञान होता है। तो ऐसे दो विशेषण और लगानेसे न तो विपर्ययज्ञानके साथ व्यभिचार होगा और न सर्वज्ञज्ञानके साथ व्यभिचार होगा।

अब उन सब शंकाओंका समाधान करते हैं कि मतिज्ञानका निमित्त आलोक भी माना जाये तो आलोक आलम्बन रूपसे कारण नहीं है। हाँ चक्षुइन्द्रियको बल प्राप्त करा देता है आलोक, उसका इतना ही सहारा है, और इस सहारेकी दृष्टिसे जैसे आलोकको कारण मानते हो, ऐसे ही काल और आकाश आदिक भी निमित्त माना जा सकता है, और इसी प्रकार ज्ञानको भी अर्थनिमित्तक माना जा सकता है, पर वह आलम्बनरूप नहीं है। जैसे कोई वृद्ध लाठी लेकर चलता है तो जैसे लाठीमें वृद्धका आलम्बनरूप है, इसी प्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति ज्ञेय पदार्थ आलम्बनरूप नहीं है। वे ज्ञानकी प्राप्तिमें कुछ मदद नहीं कर रहे, किन्तु ज्ञानका नेत्रके साथ विषयविषयी भाव सम्बन्ध है। न तो कार्यकारण सम्बन्ध है और न आधार-आधेय भाव सम्बन्ध है।

अब अनुमान जो शंकाकारने किया था उसपर विचार करें। हम आदि लौकिक जनोंको सत्य ज्ञान होता है, यह हेतु दिया था। तो उसमें चाक्षुष प्रत्यक्षका आलोक निमित्त है, काल निमित्त है, आकाश आदिक निमित्त हैं, मगर यह केवल एक बाह्य निमित्तमात्र है। क्या तुम ऐसा समझकर कहते हो या आलोकको चक्षुइन्द्रियजन्य ज्ञानका आलम्बनरूप कारण समझते हो? अगर मात्र निमित्त समझते हैं बाह्य तो इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। अनेक बाह्य निमित्त रहा करते हैं। ज्ञानमें

काल भी उदासीन निमित्त है, आकाश आदिक भी उदासीन निमित्त हैं। हाँ दूसरी बात अगर मानी याने आलोक चाक्षुषज्ञानका आलम्बन रूप कारण है तो यह विरुद्ध बात है। अगर चाक्षुष ज्ञानका आलम्बन कारण हो प्रकाश तो बिल्ली, व्याघ्र आदिक जीवोंको चाक्षुषज्ञान होता है उसमें तो प्रकाशकी जरूरत नहीं पड़ती। तो पदार्थ और आलोक इन ज्ञानोंका एक उदासीन कारण भले ही कह दो, किन्तु ये ज्ञानके आलम्बन कारण नहीं कहलाते, ज्ञानका कारण तो अंतरंग है, ज्ञानावरणका क्षयोपशम आदिक और बाह्य कारण है इन्द्रिय आदिक और भीतरी कारण याने कारणको कुछ बात उत्पन्न करनेवाले, बल भी उत्पन्न नहीं करते, किन्तु जिसकी उपस्थिति में ज्ञानके निमित्तभूत इन्द्रियाँ प्रवर्त हो सकें वह भी एक कारण कहा जा सकता, किन्तु आलम्बन कारण उनमेंसे कुछ भी नहीं कहलाता। ज्ञानका पदार्थोंके साथ केवल विषयविषयी भाव सम्बन्ध है।

मतिज्ञानमें पदार्थकी उत्पादककारणताकी असिद्धि एवं विषयभूतताकी सिद्धि पदार्थको जो ज्ञानका कारण मानते हैं वे यह बतायें कि जिस समय क्षणिक पदार्थ ज्ञानका जनक बन रहा है उस समय तो आलम्बन है नहीं और जब नष्ट हो चुका तो आलम्बन बने कौन? उनमें जब वह जनक नहीं। तात्पर्य यह है कि क्षणिकवादी लोग ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक पदार्थ एक क्षणको ही ठहरता है और वह पदार्थ ज्ञानको उत्पन्न करता है। अब ज्ञानको उत्पन्न ही कर ले, यह भी बड़ी गनीमत है। प्रथम तो पदार्थ जब है तब वह ज्ञानको कैसे उत्पन्न कर सकता? और कदाचित् मान भी लें तो उत्पन्न हुए बाद ही तो आलम्बनकी बात सोची जाये तो जब पदार्थ कहलाता नहीं तो ऐसी विडम्बना बनेगी कि उत्पत्ति तो की किसी पदार्थने और आलम्बन बना और कोई पदार्थ। इससे पदार्थ तो विषयमात्र है, वह ज्ञानका जनक नहीं है। ज्ञानका कारण तो ज्ञानावरणका क्षयोपशम आदिक ही है।

यहाँ शंकाकार कहते हैं कि पदार्थ तो ज्ञानका अनिवार्य कारण है। जैसे प्रकाशय पदार्थके अभावमें प्रकाशक सूर्य आदिके प्रकाशकपना नहीं बनता है, सो अर्थ उस प्रकाशकका जनक है, ऐसे ही अर्थके ज्ञान अभाव नहीं बनता, सो अर्थ ज्ञानका जनक है। यह शंका संगत नहीं है। यों तो यह भी कह सकते हैं कि प्रकाशकके अभावमें हम किसीको प्रकाशय भी कह सकते, प्रकाशक प्रकाशयका जनक हो जावे, ज्ञानके अभावमें अर्थ ज्ञेय नहीं होता, सो ज्ञान अर्थका जनक हो जावे। यदि शंकाकार यह कहें कि प्रकाशक (सूर्य आदि) व प्रकाशय (घट-पट आदि) तो अपने-अपने स्वरूपसे उत्पन्न हैं उनमें प्रकाशकपना और प्रकाशयपना सापेक्ष है तो यही उत्तर यहाँ दे लो कि पदार्थ और ज्ञान तो अपने-अपने स्वरूप उत्पन्न हैं, उनमें ज्ञातापन व ज्ञेयपन परस्पर सापेक्ष हैं।

इसका सारांश यह हुआ कि जैसे गुरु-शिष्यका जनक नहीं, शिष्य गुरुका जनक नहीं, वे दोनों पुरुष अपने-अपने कारणसे उत्पन्न हैं, फिर भी उनमें परस्परोपग्रह होनेसे गुरु-शिष्यत्वका व्यवहार है। ऐसे ही अर्थ ज्ञानका जनक नहीं, ज्ञान अर्थका जनक नहीं, वे सब तो अपने-अपने कारणसे निष्पन्न हैं, किन्तु उनमें ज्ञाता ज्ञेयका व्यवहार परस्पर सापेक्ष है। यहाँ भी यह नहीं कहा जा सकता कि अर्थ (पदार्थ) अपना आकार भी ज्ञानको सौंप देता है, इस कारण पदार्थ ज्ञानका जनक है, क्यों नहीं यह

युक्त है? यों नहीं कि शंकाकारके सिद्धान्तसे प्रथम ज्ञान द्वितीय ज्ञानमें अपना आकार सौंप देता है तभी द्वितीय ज्ञानसे पदार्थका निर्णय होता। प्रथम ज्ञान तो निर्विकल्प है, अनिर्णायक है। तो यहाँ प्रथम ज्ञानने द्वितीय ज्ञानको आकार सौंप दिया, इससे ज्ञानको भी ज्ञानका जनक मानना पड़ेगा। इन सब दोषोंके निवारणार्थ यह मान लो कि पदार्थ विषयभूत मात्र है वह ज्ञानका उत्पादक कारण नहीं। हाँ मतिज्ञान छन्दस्थ जीवका है, वह निरावरण नहीं वह प्रत्यक्ष भी नहीं, सो उस ज्ञानकी उत्पत्ति इन्द्रिय व मनको निमित्त करके होती है। यह इस सूत्रका भाव है।

ज्ञानके अर्थजन्यत्वका अभाव ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है, इस प्रकरणको यों समझना चाहिए कि केवलज्ञान तो स्वयं उत्पन्न होता रहता है। पहली बारके केवलज्ञानका निमित्त कारण तो ज्ञानावरणका क्षय है। उसके बाद केवलज्ञान निरन्तर मात्र कालद्रव्यको निमित्त पाकर होता ही रहता है। उससे पहले जितने भी ज्ञान हैं वे सब उस-उस ज्ञानके आवरणके क्षयोपशमसे होते हैं। यहाँ मतिज्ञानका प्रसंग चल रहा है। मतिज्ञान मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे होता है। उसमें पदार्थ विषय पड़ता है, अर्थात् क्या जाना, किसे जाना, जाननेमें क्या आया? यों पदार्थ विषयमात्र है, परन्तु पदार्थ ज्ञानका कारण नहीं है। यदि पदार्थ ज्ञानका कारण बने तो स्वसम्वेदन ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती है। स्वसम्वेदनमें केवल स्वका ही सम्वेदन है, पदार्थका सम्वेदन तो नहीं है, और कोई कहे कि स्वसम्वेदनमें एक निज स्व ही कारण बन जाये सो वहाँ कारणका कोई मतलब नहीं। वह है और संवेदन हो रहा है, अकारण हो रहा है। यो कहना चाहिए, और माना है शंकाकारने स्वयंमें “नैकं स्वस्मात् प्रजायते” यह खुद एक अपने आपसे उत्पन्न नहीं होता, तो इस कारण ज्ञान अर्थजन्य है, इस सिद्धान्तमें अनेक दोष आते हैं। ज्ञान अर्थजन्य है तो सर्वज्ञका ज्ञान बन ही नहीं सकता, क्योंकि भूत भविष्यके अर्थ विद्यमान तो हैं नहीं, जिससे कि वे ज्ञानके कारण बन सकें। और जो नहीं है वह कारण बनता नहीं। तो सर्वज्ञज्ञानकी भी सिद्धि न हो सकेगी। इस कारण यह ही निर्णय रखना योग्य है कि ज्ञान अर्थसे उत्पन्न नहीं होता, किन्तु अलग-अलग ज्ञानोंकी अलग-अलग बात है। सम्यक् मतिज्ञान मत्यावरणके क्षयोपशमसे होता, अन्य ज्ञान उन ही के आवरणके क्षयोपशमसे होता। मतिज्ञानमें तो इन्द्रिय और मन कारण पड़ते हैं, सम्यक् श्रुतज्ञानमें मन कारण है और पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञानोंमें इन्द्रिय मन दोनों ही कारण नहीं हैं। तो ज्ञानका वह कारण बताना चाहिए जैसा कि सभी ज्ञानोंमें अपनी-अपनी जगह घटित हो जाये। कोई कहे कि स्वसम्वेदन ज्ञान होता ही नहीं तो उनका कहना असंगत है। स्वसम्वेदन हुए बिना ज्ञान परको भी नहीं जान सकता और फिर आत्माका स्वसम्वेदन तो एक अनुभूतिकी चीज है। ज्ञानका स्वसम्वेदन और आध्यात्मस्वसंवेदन दोनोंका अर्थ थोड़ा जुदा-जुदा है। ज्ञानका स्वसम्वेदनका अर्थ है कि जो ज्ञानपर पदार्थका जाननहार है वह ज्ञान स्वका भी निर्णय रखता है और परका निर्णय रखता है। तो स्वका निर्णय न हो तो परका निर्णय नहीं हो सकता। जैसे कोई ज्ञान अपने बारेमें तो संशय रखे कि यह ज्ञान सही है या नहीं और उस ज्ञानके विषयभूत पदार्थमें निश्चय रखे, ऐसा नहीं हो सकता। जिस

ज्ञानमें खुद अपने आपमें निश्चय पड़ा है वही ज्ञान परपदार्थका निश्चायक होता है और यह तो सब अनुभूतिसिद्ध बात है।

पदार्थोंके अधिगमके उपायभूत सम्यक् मतिज्ञानकी निसिक्तताके प्रतिपादक सूत्रमें कहे गये दोनों पदोंमें अवधारणकी संगतता इस प्रकार 'तदिन्द्रियान्द्रियनिमित्तं' इस सूत्रका यह अर्थ हुआ कि मतिज्ञान इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे ही होता है। दूसरा अर्थ इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे मतिज्ञान ही होता है। यहाँ कोई कहे कि मनके बिना एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक ज्ञान होता है, तो संज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि जीवोंके भी मतिज्ञान होता और उसमें इन्द्रिय मन कारण पड़ते, याने कुमति ज्ञानमें भी इन्द्रिय और मनमें निमित्तसे होता, इसलिए इस अवधारणमें निर्बलता है। उत्तर देते हैं कि यह सम्यग्ज्ञानका प्रकरण। सम्यक् मतिज्ञानकी बात कही जा रही है, क्योंकि इस प्रकरणमें पदार्थोंके सही जाननेके उपायोंका वर्णन है। पदार्थ प्रमाण और नयोंसे सही जाना जाता है तो मिथ्यादृष्टि संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंकी बात ही यहाँ नहीं है, क्योंकि वहाँ मतिज्ञान नहीं। दूसरी बात यह है कि उन मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीवोंका मन दर्शन मोहके उदयसे ऐसा पिस गया है, निर्बल हो गया है कि मन होते हुए भी अब मन नहीं सा है, ऐसी परिस्थिति बन गई है।

तीसरी बात यह है कि इन्द्रिय और मन दोनोंसे जो हो उसकी बात कही जा रही है। एकेन्द्रियसे असंज्ञी तकके मन ही नहीं होता, अतः यहाँ मतिज्ञानसे अर्थ लेना सम्यक् मतिज्ञान और वह इन्द्रिय और मन दोनों संयुक्त निमित्तोंसे होता है। यहाँ उभयका ग्रहण है, किसीके इन्द्रियके निमित्तसे होता, किसीके मनके निमित्तसे होता, यों भेद जानकर असंज्ञी जीवकी बात भी डाल दी जावे, ऐसा कथन नहीं है। भले ही ज्ञानके इन्द्रियके निमित्तसे होने वालेका विवरण किया है, लेकिन जिसके मनसे सम्यक्मतिज्ञान होता है उसके इन्द्रियसे भी सम्यक्मतिज्ञान होता है। इस प्रकार इस सूत्रका अर्थ हुआ कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मनका निमित्त पाकर उत्पन्न होता है। अब इनमेंसे कहे गए प्रथम मतिज्ञानके भेद कहते हैं।

अवग्रहेहावायधारणाः ॥ १५ ॥

मतिविशेषनामक सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके भेदोंका वर्णन मतिज्ञानके चार भेद हैं अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। अवग्रह कहते हैं उसे जो इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध बनने पर याने अभिमुखता होनेपर जो निर्णय बना है वहाँ जो प्रथम परिचय होता है उसे अवग्रह ज्ञान कहते हैं। अवग्रह ज्ञानके बाद संशय जैसी स्थिति बनती है और उसमें अनेक कोटियोंपर दृष्टि जाती है और जिज्ञासा होती है कि क्या है सच? तो उस समय ईहा ज्ञान संदेह जैसी स्थितिको खत्म करता हुआ कुछ जानकारीकी ओर ले जाता है कि अमुक है। ईहामें कुछ निर्णय है, पर उसकी सही दृढ़ता अवायज्ञानसे होती है। अवायज्ञानसे निश्चय किए हुए पदार्थको न भूल सके, ऐसी भीतरी धारणाको धारणज्ञान कहते हैं।

यहाँ शंकाकार कहता है कि मतिज्ञानके भेद तो इससे और पहले सूत्रमें कह दिये थे। मति, स्मृति, संज्ञा, चिंता, आभिनिबोध, ये मतिज्ञानके भेद बताये गये थे। फिर यह सूत्र क्यों कहा जा रहा है? तो इस कारण यह तो कोई जवाब नहीं है कि मतिज्ञानके भेदोंको बतानेके लिए यह सूत्र है और कोई यह जवाब देना चाहे कि मतिज्ञानके जो और भेद अज्ञात थे उनको मतिज्ञानके बतानेके लिए यह सूत्र कहा गया है। यह बात यों ठीक न बैठेगी कि फिर तो जैसे स्मृति संज्ञा आदिक जुदे-जुदे प्रमाण हैं। ऐसे ही अवग्रह, ईहा आदिक भी प्रमाण बन जायेंगे। इन अज्ञात भेदोंका स्मृति आदिकमें किसीमें अन्तर्भाव नहीं होता, इस कारण यह सूत्र कहना निरर्थक है।

इसका समाधान करते हैं कि यह सूत्र मतिज्ञानके जो प्रकार बताये गए थे पहले मति, स्मृति आदिक उनमें से प्रथम जो मति है याने सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है उसके भेद बतानेको यह सूत्र कहा जा रहा है। यह प्रभेद प्रतिपादक सूत्र है। जैसे अनुमान तर्कज्ञानपूर्वक होता है। तर्कज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, मतिज्ञान स्मरणपूर्वक होता है, स्मरण मतिपूर्वक याने सांख्यवहारिकप्रत्यक्षपूर्वक होता है, तो इस मतिज्ञानमें और भी प्रकार हैं। उनमेंसे स्पष्ट प्रकार है धारणा। स्मृति धारणापूर्वक होती है, धारणा अवायपूर्वक होती है। अवाय ईहापूर्वक होता है, ईहा अवग्रहपूर्वक होता है। इस तरह इनमें कुछ भेद थे, और ये सब इन्द्रिय अनिन्द्रियके निमित्तसे हुए हैं, इस कारण मतिविशेषके ये चार भेद हैं। जिन जीवोंके मतिज्ञान होता है उनको इसी क्रममें होता है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा बहुतसे जल्दी-जल्दी हो जानेसे लोग यहाँ अन्तर नहीं समझ पाते, मगर होनेकी विधि इस प्रकार है। उसके प्रभेदोंको बतानेके लिए इस सूत्रका अवतार हुआ है।

अब इस अवग्रह आदिकके क्या लक्षण हैं? सो सुनो इन्द्रिय और पदार्थके योग से, जिसका जैसा जितना योग है उस योगसे उत्पन्न हुए वस्तुमात्र ग्रहणसे जो वस्तुभेदका ग्रहण बनता है वह अवग्रह कहलाता है। वस्तुमात्रका ग्रहण तो दर्शन है और उससे जो कुछ विकल्प बना, समझ बनी, जाननेकी मुद्रा बनी, वह है अवग्रह। पहले तो इन्द्रिय और पदार्थों के योगसे याने कितना दूर, कितना निकट, कितने संयोगमें जाना जा सकता, वैसी ही स्थिति हो तो वहाँ वस्तुका सामान्य प्रतिभास होता है। उसका नाम तो दर्शनोपयोग है, पीछे आवान्तर सत्ताको ग्रहण करने वाला याने एक कुछ वस्तुको ग्रहण करने वाला ज्ञान अवग्रह कहलाता है। जैसे कि देखकर जाना कि यह मनुष्य है और अवग्रहसे ग्रहण किए गए अर्थ सामान्यमें याने अवग्रहने जाना तो भिन्न पदार्थ को, मगर सामान्य तरहसे जाना। अब उसमें विशेषका कांक्षण होना, चुनाव होना, इस तरह विशेष जानना वह सब ईहा कहलाता है और उस ही का निर्णय बनाना सो अवाय है, और उसकी स्मृतिका कारण बना रहे, इस प्रकारका जो अवधारण है उसे धारणाज्ञान कहते हैं। इस प्रकार प्रथम मतिविशेषके ये चार भेद कहे गए हैं।

‘अवग्रहेयावायधारणाः’ इस सूत्रका सम्बन्ध तत् शब्दसे लगता है। जो इस सूत्रसे पहले सूत्रमें ‘तत्’ शब्द दिया है उसके साथ इसका सामानाधिकरण्य बनता है अर्थात् वह प्रत्यभिज्ञान अवग्रह,

ईहा, अवाय और धारण स्वरूप है। सामानाधिकरण्यका अर्थ है विशेषणविशेष्य भाव जैसा। यहाँ कोई यह शंका न करे कि इन अवग्रह आदिक ज्ञानोंको तो मान लीजिए परिणाम जो इस सूत्रमें चार ज्ञान बताये हैं और मतिज्ञान हुआ परिणामी और फिर यों सम्बंध करो कि मतिज्ञानके चार भेद हैं और ऐसा व्याधिकरणपना ठीक भी लगता है। जैसे कोई कहे गेहूँ चून है, तो इसे सुननेमें अच्छा तो नहीं लगता और कहा जाये कि गेहूँका चून है तो ठीक जंचता है, इसी तरह वह मतिज्ञान अवग्रहादि रूप है। इसकी अपेक्षा यों कहा जाय कि मतिज्ञानके अवग्रह आदिक भेद हैं सो ठीक जंचेगा, ऐसी शंका न करना, क्योंकि यहाँ जिन्हें परिणामी और परिणाम कह रहे हो वे अभेद बन जाते हैं, और अभेदमें समानधिकरणपना है, मगर ये सब भिन्न हों तो समानाधिकरण तो क्या, अधिकरण भी नहीं बन सकता। जैसे हिमालय और विन्ध्याचल ये दो अलग पर्वत हैं तो उनमें षष्ठी भी नहीं लग सकती। हिमालयका विन्ध्याचल है और विन्ध्याचलका हिमालय है, कुछ भी नहीं बनता और यहाँ चूँकि अवग्रह आदिक भी मतिज्ञान हैं, इसलिए भेददृष्टि रखकर समानाधिकरणपना ठीक बैठता है।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें विशेषरहित सामान्यकी अज्ञेयता अब यहाँ कोई शुद्ध सत्तावादी शंका करते हैं कि ५ ज्ञान हैं, चार ज्ञान हैं आदिक ऐसा भेद करना तो बिल्कुल अनुचित है, क्योंकि सिर्फ एक शुद्ध सत्ता ब्रह्ममात्र है जगत्। भेद जो कुछ दिख रहे हैं वे सत्य नहीं हैं। एक सत्ता ही सत्य है। देखो कभी-कभी दो चन्द्र दिखने लगते तो एक चन्द्रके दो दिखने लगे तो यह भेद गलत हो गया ना? कभी ऐसा काँच लगायें आंखोंपर कि एक वस्तुके सैकड़ों दिखें तो जो भेद दिख रहे वह गलत है ना? तो भेद सब असत्य है। एक चिन्मात्र अभेद शुद्ध सत्ता वही सही है।

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस तरह तो यह भी कहा जा सकता है कि अभेद भ्रम है। प्रथम तो किसी मनुष्यको अभेद प्रतीत नहीं होता, किन्तु सब भेद भेदरूप प्रत्येक पदार्थ जैसे-जैसे आवान्तर सत् हैं वैसे ही प्रतीत हो रहे हैं और फिर देखो बहुत दूरसे एक पर्वतको देखा, जिसपर घने पेड़ थे तो दूरसे तो ऐसा लगता जैसे एक ही मखमल बिछा हो, अलग-अलग वृक्ष नहीं मालूम होते। तो देखो यह अभेद गलत है ना? तो यों तो अभेद भी भ्रम हो जाता है। यदि कही कि निकटसे विचार कर देखनेसे सब सही हो जाता तो यह ही बात भेदमें भी है। अच्छी प्रकार विचारें तो ज्ञात हो जाता है कि चन्द्र तो एक ही है जो दिख रहा है, इसका कारण आंखमें रोग है, सो कई दिखते हैं। वास्तविकता यह है कि प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक हैं। सामान्यरहित विशेष कुछ नहीं, विशेषरहित सामान्य कुछ नहीं। पदार्थ है सो स्वभावमें सदा रहेगा, अवस्थायें प्रति समय नवीन-नवीन होती हैं। तो इस तरह केवल अभेद ही है, शुद्ध सत्तामात्र है, यह हठ नहीं किया जा सकता।

सामान्यविशेषात्मक पदार्थ सामान्यरहित विशेषकी अज्ञेयता अब यहाँ कोई क्षणिकवादी कहता है कि हाँ शुद्ध सत्ता या अभेद स्थायी कोई तत्त्व नहीं है। ये जो सब कल्पनायें हैं जाति, नाम, सम्बन्ध, द्रव्यपन, स्थूलता, स्थिरता, प्रत्यभिज्ञानका विषय होना आदिक जितने भी भेद हैं ये सब कल्पनायें हैं। वस्तु तो इन कल्पनाओंसे रहित है और स्वलक्षणमात्र है, ऐसा स्वलक्षणका ज्ञान इन्द्रियसे होता है और

वही यथार्थ है और वही ज्ञान है। अन्य कोई तरहका ज्ञेय मानना भी सही नहीं और अन्य प्रकारका ज्ञान मानना भी सही नहीं। समाधान यह भी एक कथन मात्र है। वस्तु जब सामान्यविशेषात्मक ही होता है तो उसमें विशेषका एकान्त करना भी हठ है, पदार्थ ज्ञानका विषय है और वह पदार्थ सामान्य-विशेषात्मक है। ज्ञान अपने आवरणक कर्मके क्षयोपशमसे होता है और उसका विषय है सामान्यविशेषात्मक पदार्थ। और जो मतिज्ञानावरणके क्षयोपशमसे इन्द्रिय अनिन्द्रियका निमित्त करके जो पहले परिचय बन रहा है वह मतिविशेष है और वह मतिविशेष अवग्रह, ईहा, अवाय धारणा स्वरूप है। अब अवग्रह आदिकका स्वरूप बतलाते हैं।

धारोदित दृष्टिसे अवग्रहके स्वरूपका वर्णन अवग्रहका स्वरूप समझनेके लिए प्रथम सारी विधियोंको समझ लें। हम आप मानवोंको सर्वप्रथम तो दर्शन होता है, उसके बाद अनध्यवसाय जैसी स्थिति बनती है। तत्पश्चात् अवग्रह होता है, फिर ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान इस तरहसे यह परम्परा चलती है। यहाँ दर्शनका तो अर्थ है एक, जैसा कि कोई लोग शुद्ध प्रतिभास मानते करीब-करीब उस तरहका। उसके बाद अनध्यवसाय होता है याने ईषत् अध्यसाय कुछ तो प्रतिभासमें आया, पर कह नहीं सकते। वह है क्षणिकवादियोंके निर्विकल्प प्रत्यक्ष जैसा। उसके बाद हुआ अवग्रह ज्ञान तो प्रथम दर्शनका स्वरूप समझें जो कि अवग्रहका कारण है। कुछ है इस प्रकार प्रतिभास करने वाला और पृथक् न हुए, ऐसे सामान्य वस्तुको जो ग्रहण करे उसको कहते हैं दर्शनोपयोग।

जैसे कोई पुरुष आंख मींचे हो, जैसे ही आंखें खुलीं और तुरन्त ही एक सामान्य बात प्रतिभासमें आयी। जहाँ ही कोई वस्तु दिखी, देखी, मानी समझी वहाँ बन जाता है अवग्रह। उससे पहले जो महासत्ताका अवलोकन हो, दर्शन हो, वह है दर्शन, और पीछे तुरन्त ही जो विशेषोंको जानने वाला ज्ञान हो वह है अवग्रह। दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक ये क्रमसे होते हैं, लेकिन इनका अन्तर नहीं पहिचानमें आता। इतना शीघ्र होता है कि अन्तर ही बतानेको शब्द नहीं। तो ऐसा दर्शनोपयोग अवग्रह मतिज्ञानका कारण है। यद्यपि ये समस्त पदार्थ अनेकान्तात्मक हैं, आधार-आधेय, जन्य-जनक, सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य अनेक धर्मस्वरूप हैं, फिर भी अपने ज्ञानावरण अन्तरायके क्षयोपशमके अनुसार किसी धर्मको अंशरूपका ग्रहण बन जाता है और उस अवग्रह ज्ञानमें विकल्प है, दर्शनमें विकल्प न था, वह अवग्रह ज्ञान अनध्यवसायसे कुछ ऊँचा उठा हुआ है। सामान्यविशेषात्मक वस्तुको जानने वाला अवग्रह प्रमाण अनध्यवसायसे ऊँचा उठा हुआ है। अनध्यवसाय याने निर्विकल्प ज्ञान समाधि वाला नहीं, किन्तु दर्शनके बाद प्रथम ही प्रथम होने वाला अनिर्णयात्मक ज्ञान वही तो अनध्यवसाय है। इसमें दर्शन न तो प्रमाण है, न अप्रमाण है, किन्तु अनध्यवसाय प्रमाण है, अवग्रह प्रमाण हैं।

यहाँ यह शंका न रखे कोई कि शुद्ध सत्ताका दर्शन होना तो संग्रहनयका काम हो गया, उसे दर्शनोपयोगका विषय क्यों कहते? तो बात यह है कि संग्रहनय तो तीन लोक तीन कालकी वस्तुओंके

दर्शनमात्रको ग्रहण करता है और दर्शन केवल एक प्रतिभास मात्र करता है। उसमें संग्रहण नहीं है, किन्तु मात्र अवलोकन है। संग्रहनयसे तो अपनी जातिका विरोध न करके सर्वभेदोंका संग्रह होता है, परन्तु दर्शनोपयोगमें संग्रह नहीं है। मात्र एक सामान्य झलक है, और यहाँ दर्शनमें अद्वैतवादियोंके ब्रह्मदर्शनके समान दर्शन नहीं है, क्योंकि दर्शन तो अचक्षुर्दर्शन, चक्षुर्दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन इन सभीमें दर्शनका विषय होना चाहिए। तो पहले हुआ दर्शन, फिर हुआ अवग्रह ज्ञान। अवग्रह ज्ञानमें विशेष बोध हुआ है। जीवोंके इसी क्रमसे ज्ञान होता है, किन्तु जल्दी-जल्दी ज्ञान होते रहनेसे क्रमका बोध नहीं हो पाता, पर जब-जब भी इन छद्मस्थ जीवोंको कोई नया-नया मतिज्ञान होता है तो दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक क्रमसे हुआ करते हैं।

अवग्रहज्ञानकी इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तताका प्रकाश यहाँ शंकाकार कहता है कि अवग्रह ज्ञान तो दर्शनसे उत्पन्न होता है तो फिर इस अवग्रह ज्ञानको इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ, ऐसी विरुद्ध बात क्यों कही जाती है? समाधान यह है कि अवग्रह ज्ञान परम्परासे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ है, इस कारण ईहा, अवाय आदिक ज्ञानोंके समान वह अवग्रह ज्ञान भी परम्परासे इन्द्रिय और मनसे जन्य है। जिस अवग्रह ज्ञानसे जो जाना उसी विषयमें ईहा ज्ञान बनता है। तो जो किसी इन्द्रियसे जाना जा रहा था अवग्रहमें वही तो दृढ़तासे जाना गया ईहा अवाय आदिकमें तो जैसे ईहा, अवाय आदिकको परम्परासे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ कहते हैं, ऐसे ही दर्शन हुआ इन्द्रिय और मन से, क्योंकि चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन ऐसे भेद किए जा रहे हैं।

वास्तविकता तो यह है कि दर्शनोंमें जो चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन भेद किए गए, उसका अर्थ यह है कि चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जो ज्ञान बनानेके लिए उद्यम किया जाता है उस ज्ञानसे पहले जो सत्ता सामान्यरूप दर्शन है उसका नाम चक्षुर्दर्शन है, इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रियको छोड़कर बाकी अन्य इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होने वाला जो ज्ञान है उससे पहले जो सत् सामान्यका दर्शन है वह दर्शन कहलाता है अचक्षुर्दर्शन। तो ऐसा मानकर चलें कि चक्षु और अचक्षुसे दर्शन हुआ है तो उसी धारामें ज्ञान बना है अवग्रह ज्ञान, तो वह परम्परासे इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुआ कहलाता है तथा क्रमसे इन्द्रिय और मन द्वारा जन्य है, ऐसा निश्चय होनेके कारण यहाँ कोई विरोध नहीं आता।

सारांश यह है कि साक्षात् रूपसे देखें तो यो कहा जायेगा कि अवग्रहज्ञान दर्शनसे जन्य है और परम्परा करके इन्द्रियों और मनोसे जन्य है, यह क्रम बराबर है। और जिस तरह अनिन्द्रियसे आत्माका आलोकन प्रतीत होता है उसी प्रकार अवग्रह ईहा आदिक भी तो इन्द्रिय और मनसे होते हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है तब या तो परम्पराजन्य मान लो अथवा प्रतीतिके अनुसार उसे इन्द्रिय और मनसे जन्य मान लो। सारांश यह है कि ये अवग्रह आदिक ज्ञान इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञानकी भाँति इन्द्रिय और मनसे निरपेक्ष नहीं है यह ज्ञान। प्रतीति भी कहती है कि जो यह मैं 'कुछ है' इस तरह महासत्तारूप केवल सामान्य वस्तुको देख चुका हूँ वही मैं रूप, आकार, रचना आदिक सामान्य भेदों द्वारा वस्तुका अवग्रह कर रहा हूँ और वही मैं अन्य विशेष अंशोंमें उस

वस्तुका निर्णय प्रारम्भ कर रहा हूं और वही मैं, ऐसा ही है, इस ढंगसे वस्तुका पूर्ण निर्णय कर रहा हूं और वही मैं उसी वस्तुको कालान्तरमें भी स्मरण करने योग्य रहूं, इस रूपसे धारणा कर रहा हूं। तो देखो उन ही इन्द्रिय और मन द्वारा इन सबकी उत्पत्ति प्रतीत हो रही है। इसी निमित्तको पाकर आत्मा क्रमसे दर्शन और अनेक गुणोंको उत्पन्न कर रहा है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, इन चारों ज्ञानोंमें ज्ञानरूपताकी सिद्धि अब यहाँ कोई शंका करते हैं कि वर्ग, रचना, आकार आदिकका सामान्यरूपसे जिस ज्ञानमें प्रतिभास हो रहा है वह तो विशेषज्ञान है। उस विशेषज्ञानका ही नाम अवग्रह रख दिया जाये तो हम विवाद नहीं रखते और इसी तरह वस्तुके विशेष अंशोंका जिस ज्ञानमें निश्चय किया जा रहा है वह अवाय है, तो किसी प्रकार ये दो ज्ञान तो ठीक हो सकते हैं अवग्रह और अवाय, लेकिन ईहा और धारणा क्या चीज है? ईहा तो आकांक्षाको बोल रहे हैं सो आकांक्षा, इच्छा ये तो ज्ञानसे पृथक् गुण हैं और धारणा क्या है? संस्कार। तो संस्कार भी ज्ञानसे पृथक् गुण है। इच्छा और संस्कार तो ज्ञानरूप नहीं हो सकते, क्योंकि गुणोंके २४ भेदोंमें इच्छा और संस्कारको याने भावनाको जुदा माना है, ऐसा कोई दार्शनिक कहता है।

समाधान इसका यह है कि इच्छा और संस्कार आत्माकी परिणतिसे कोई अलग चीज नहीं है। अभेददृष्टिसे देखो इच्छा और संस्कार ये भी ज्ञानकी ही परिणतियाँ हैं। वह किस तरह कि ज्ञान ही एक चाह रूपसे जानन करे सो ही तो इच्छा है और ज्ञानकी एक दृढ़ अवधारण रहे वही तो संस्कार अथवा धारणा है। आदि आत्मासे इसे पृथक् माना जाये तो यह कुछ भी नहीं ठहरता। वस्तुके अंशोंके आकांक्षारूपमें जो दृढ़ विशेषज्ञान है उस ज्ञानका ही नाम ईहा है और उस ईहा ज्ञानसे जो अधिक दृढ़ ज्ञान है सो अवाय है और अवाय ज्ञानसे भी अधिक दृढ़ ज्ञानका नाम धारणा है। तो ये सब ज्ञानकी ही परिणतियाँ हैं। यद्यपि इच्छा मोहनीयकर्मके उदयसे चारित्रगुणकी विभाव पर्याय बनती है और ज्ञान आत्माके चैतन्य गुणका परिणमन है सो ऐसी प्रतिबोधप्रायोजनिक भेददृष्टि करें तो इच्छा न्यारी चीज, ज्ञान न्यारा है, फिर भी ईहाज्ञान जो उत्पन्न होता है वह पूर्व समयमें एक जिज्ञासा रूपमें उमड़कर ईहा ज्ञान बनता है। सो उस ईहा ज्ञानमें आकांक्षाका व्यवहार करते हैं। जैसे कि जो श्रेणीमें ध्यानस्थ मुनि है उन्हें भी मुमुक्षु कह देते हैं और मुमुक्षुका अर्थ है मोक्ष पानेकी इच्छा करने वाले लोग। तो क्या उन श्रेणियोंमें रहने वाले मुनि मोक्षकी इच्छा कर रहे हैं? क्या उनमें इच्छा जग रही है? इच्छा तो नहीं जग रही, फिर भी उपचार से, व्यवहारसे ऐसा ही कहा जाता है। तो ऐसे ही क्षयोपशमके अनुसार उन ज्ञानोंमें अपेक्षाकृत अतिशय उत्पन्न होनेका ही नाम ईहा, अवाय और धारणा है।

सुख-दुःख आदि परिणामोंमें भी ज्ञानधारावाहिता यहाँ शंकाकार कहता है कि यदि चेतन आत्मामें होने वाले परिणमनों को अभेददृष्टिसे ज्ञानकी ही बात माननेकी कहें और यह बताते यों हैं अनेक लोग कि किसी भी गुणको ज्ञानका उपादान कारण नहीं कहते। तो सुख-दुःख आदिक परिणामोंके साथ व्यभिचार दोष आता है। सुख-दुःख आदिक भी तो ज्ञानके उपादान कारण बन रहे हैं, ऐसा प्रतीत हो रहा है।

इस शंकाका सामधान यह है कि वे सुख-दुःख आदिक भी ज्ञानस्वरूपनेसे युक्त हैं और ऐसी बात स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा सिद्ध हैं अर्थात् सुख, दुःख इच्छा, भावना सभी तो स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे सिद्ध हैं, और इन सभी परिणामोंपर चैतन्यभावका अन्वय है। आत्माका जो स्वसम्वेदन गुण है उसपर तो ज्ञानात्मकता ही छाया जा रही है और देख लो, सुख दुःख स्वसम्वेद्य होते या नहीं, तब ही तो जीव तुरन्त सुख दुःखका अनुभव करता है। तो जीवके जितने भी परिणमन हैं उन सबको जीवस्वरूपनेकी दृष्टिसे स्वसम्वेदनस्वरूपता सिद्ध है। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, पारिणामिक ये पाँचों ही भाव हैं। इन ही के तो ५३ भेद किए गए हैं। ये सबके सब सम्वेदनस्वरूप हैं, क्योंकि चैतन्य उपयोग स्वरूप जीवद्रव्यको ही विषय करने वाला है। यदि उनको असम्वेदनपनेकी बात कहेंगे तो उनकी व्यवस्था नहीं बन सकती। इसी कारण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादिक ये प्रधानके धर्म नहीं हैं। अवग्रह ज्ञान आदिक भी प्रधानके धर्म नहीं हैं। दर्शन सभी प्रकारके ज्ञान ये सब आत्माकी परिणति है, प्रकृतिकी परिणति नहीं है, अचेतनके परिणाम नहीं हैं। यदि ये अचेतनके परिणाम होते तो अचेतनके परिणामोंका आत्मा कभी भी सम्वेदन कर न सकता था। जो लोग ऐसा कहते हों कि पुरुषका याने आत्माका स्वभाव तो मात्र चेतना है और बाकी संकल्प ज्ञान अभिमान अभिमनन निर्णय, ये सब प्रधानकी पर्यायें हैं, वह ठीक नहीं हैं, क्योंकि जो स्वसम्वेदनात्मक हों वे सब आत्मा ही परिणाम हो सकते हैं, नहीं तो उनका स्वसम्वेदन नहीं बन सकता। यह सब स्वसम्वेदन सही है, इसके सभी लोग साक्षी हैं, इसमें कोई भी बाधक प्रमाण नहीं आता।

अवग्रह आदिक ज्ञानोंकी क्रमशः उत्पत्ति यहाँ शंकाकार कहता है कि अवग्रह आदिक मतिज्ञान ये सब इस क्रमसे होते हैं, इसमें तो कुछ सन्देह हो रहा है क्योंकि जैसे दूरवर्ती पदार्थोंमें इन अवग्रह आदिक ज्ञानोंका क्रमसे प्रवर्तन माना जा रहा है सो ऐसा समीपवर्ती पदार्थोंमें नहीं दिखता। जिस किसीको देखते हैं तो एक साथ ही एकदम स्पष्ट हो जाता। वहाँ पहले दर्शन हुआ, फिर अवग्रह हुआ, ईहा हुई, ऐसा कुछ नहीं है।

समाधान यह है कि भले ही जल्दी-जल्दी होनेकी दृष्टिसे इनका क्रम नहीं जाना जाता, किन्तु होते ये सब क्रमसे ही है। जैसे १०० पानोंमें एक सूई जोरसे छेदी जाये तो वहाँ पता नहीं पड़ता है कि ये पान क्रम-क्रमसे छिदे हैं, लेकिन छिदे तो क्रम-क्रमसे ही हैं, ऐसे ही ये दर्शन, अवग्रह, ईहा आदिक अभ्यास दशामें एकदम शीघ्र होते हैं तो उनकी शीघ्रताके कारण यह नहीं ज्ञात हो पाता कि ये सब क्रमसे होते हैं। इसका कारण है कि ऐसा अधिक अभ्यास कि शीघ्र होने वाले पदार्थका क्रमसे ज्ञान होना कठिन हो जाता है, यह सब क्षयोपशमविशेषका प्रताप है। अवग्रह आदिक ज्ञान जब अनभ्यस्त दशामें पाये जाते हैं और पदार्थोंका अभ्यास नहीं है समझने का, वर्णनका तो क्रम कुछ ज्ञान होता है। तो जैसे वहाँ क्रम बसा है, ऐसे ही अभ्यासदशामें भी ये सब ज्ञान क्रमसे होते हैं और उनका क्रम है, मगर अभ्यास है, क्षयोपशम विशेष है कि वहाँ क्रमका पता नहीं पड़ता।

अवग्रह ज्ञानकी इन्द्रियजन्यता व प्रमाणरूपता अब यहाँ कोई क्षणिकवादी शंका रख रहा है कि यह कहा जा रहा है कि अवग्रहज्ञान इन्द्रियसे उत्पन्न होता है सो तो बात सही नहीं है, क्योंकि अवग्रहज्ञान तो विकल्पात्मक ज्ञान है, और इन्द्रियाँ संकल्प-विकल्प वाले ज्ञानको पैदा नहीं करतीं। विकल्प करना तो मिथ्या वासनाका काम है। उनमें मनका सहयोग रहे तो रहे, पर इन्द्रियसे उत्पन्न होनेकी बात नहीं बनती। इन्द्रियाँ तो निर्विकल्प ज्ञानको ही उत्पन्न करती हैं। तब बात यह आयी कि अवग्रहज्ञान विकल्पस्वरूप है। और जो-जो विकल्पस्वरूप है वह सब अवस्तु है। तो अवस्तुको जो विषय करे वह ज्ञान क्या प्रमाण कहला सकता?

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि अवग्रहज्ञानका विषय द्रव्य और पर्यायोंको सामान्यरूपसे विषय करना है। केवल सामान्यको या केवल विशेषको, या केवल क्षणको ही जाने सो बात नहीं। तो सामान्यविशेषात्मक पदार्थको जाननेके कारण अवग्रहज्ञान इन्द्रियजन्य है, ऐसी बात युक्तिसंगत हो जाती है। इस अवग्रहज्ञानका कोई निषेध भी तो नहीं कर सकता। जो विकल्प ज्ञानस्वरूप अवग्रहज्ञान हो रहा सो सच्चा ही हो रहा, मिथ्या विकल्परूप नहीं है। अगर मिथ्या विकल्परूप होता अवग्रहज्ञान तो अन्य विकल्पोंसे इसमें बाधा आ जाती और साथमें अवग्रहज्ञान स्पष्ट भी है। तो ऐसा स्पष्ट अवग्रहज्ञान जो निर्णायक है, अवग्रहरूप है उसका कैसे प्रतिबोध किया जा सकता है? स्पष्ट ज्ञान इन्द्रियजन्य स्वयं शंकाकारने भी माना है, बल्कि निर्विकल्प ज्ञान को स्पष्ट नहीं माना जा सकता है। तो चूँकि अवग्रहज्ञान एकदेश स्पष्ट है, इसलिए वह इन्द्रियसे जन्य है और हेतुवोंसे भी सिद्ध है कि अवग्रहज्ञान प्रमाण है। उसका अनुमान प्रमाण है कि अवग्रहज्ञान प्रमाण है सम्वादक होने से। जो ज्ञान सम्वादक होते वे प्रमाण हैं। सम्वादकका अर्थ है कि उनसे सफल प्रवृत्ति बने और उनमें किसी प्रमाणसे बाधा न आये, और अवग्रहज्ञानका साक्षात् फल भी है, परम्परा फल भी है। साक्षात् फल तो यह है कि अपना और पदार्थका निर्णय करना और परम्परा फल यह है कि उससे ईहा ज्ञान बनता और त्याग, उपादान और उपेक्षा ये तीन बातें भी प्रकट होती हैं। तो इतना उत्तम है यह अवग्रहज्ञान जो कि प्रमाणयोग्य कार्यको कर रहा है। इस कारण अवग्रहज्ञानको इन्द्रियजन्य न मानना और प्रमाण न मानना यह तो एक मिथ्या प्रलाप है।

अधिगमके उपायोंमें प्रारम्भिक उपाय अवग्रहज्ञान पदार्थोंके स्वरूपके जाननेका उपाय प्रमाण और नय है, इसी प्रसंगमें प्रमाणका वर्णन चल रहा है। प्रमाण दो प्रकारके होते हैं परोक्षप्रमाण और प्रत्यक्षप्रमाण। प्रत्यक्षप्रमाण तो उसे कहते हैं जो इन्द्रिय और मनके निमित्त बिना केवल आत्मशक्तिसे उत्पन्न होते हैं और परोक्षज्ञान उन्हें कहते हैं जो इन्द्रिय और मनके निमित्तसे उत्पन्न होते हैं। परोक्षज्ञान दो प्रकारके हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। यहाँ प्रकरण चल रहा है जानकारीके उपाय का। सही जानकारी बनती है सही प्रमाणों से। तब यहाँ मतिज्ञान श्रुतज्ञानका प्रयोजन है। सम्यक्मतिज्ञान और सम्यक्श्रुतज्ञानसे सम्यक्मतिज्ञानकी ५ जातियाँ हैं सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान। उनमेंसे सांख्यव्यवहारिक प्रत्यक्ष जिसका प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और

अनुमान। उनमेंसे सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष जिसका कि नाम मतिविशेष है उसके भेद कहे जा रहे हैं। ये चार प्रकारके होते हैं अवग्रह, ईहा अवाय और धारणा।

अवग्रहज्ञानके विषयमें अनेक शंका समाधान द्वारा वर्णन चल रहा है। यहाँ अवग्रह ज्ञानको प्रमाण और इन्द्रियज एवं अनिन्द्रियज सिद्ध किया है। अवग्रहज्ञानका विषय है द्रव्य पर्यायको सामान्य विशेष रूपसे जानना। द्रव्यपर्यायको सामान्य विशेष रूपसे जाननहार अवग्रहज्ञान इन्द्रियज है, क्योंकि इसमें किसी अन्य प्रमाणसे विरोध नहीं आता तथा यह स्पष्ट है। यदि अवग्रह ज्ञान इन्द्रियज न होता तो किसी प्रमाणसे विरोध भी आता और अस्पष्ट रहता। जितनी भी कल्पनायें हैं, जो वास्तविक ज्ञान नहीं है वह सब अन्य प्रमाणसे बाधित होता है और इसी कारण वह इन्द्रियज नहीं है, ऐसा स्वयं क्षणिकवादी शंकाकार भी मानते हैं। अवग्रहज्ञान विकल्पस्वरूप है, इसका अर्थ है कि यहाँ निश्चयरूपसे निर्णयको ही विकल्प कहा है, क्योंकि समस्त ज्ञान अर्थाकार जो जानते हैं इसीको ही ज्ञान संबन्धी विकल्प कहते हैं। वह विकल्प ज्ञानका रूप है, अतएव प्रमाण है।

चार हेतुओंसे अवग्रह ज्ञानके प्रमाणत्वकी सिद्धि अवग्रहज्ञानको प्रमाण प्रसिद्ध करनेके लिए ये साधन युक्तिसंगत हैं अवग्रहज्ञान प्रमाणरूप है अथवा विकल्पज्ञान प्रमाणरूप है, क्योंकि निषेध रूपसे इसमें सम्वादकपना है। दूसरा हेतु यह है कि विकल्पज्ञान ज्ञानका साधकतम है, याने प्रमाण का साधक है। तीसरा हेतु यह है कि विकल्पज्ञान अनिश्चित पदार्थोंका निश्चय करने वाला है। चौथा हेतु यह है कि जो पदार्थोंको जानने वाले लोग हैं उनको यह विकल्पज्ञान अपेक्षा करने योग्य है याने जानने वाले लोग विल्पिज्ञानकी अपेक्षा करते हैं। इसके बिना निर्णय नहीं होता इसलिए विकल्पज्ञान तो प्रमाण है। किन्तु किसी भी प्रकारका जहाँ अर्थविकल्प नहीं, न वस्तु जाना जा रहा, न अंश, न संसर्ग, न विशेषण, न विशेष्य कोई भी कल्पना जहाँ नहीं, जानकारी नहीं, ऐसा निर्विकल्प दर्शन तो प्रमाण है ही नहीं, क्योंकि ऐसा निर्विकल्प दर्शन निर्वाध सम्वादक नहीं है। उसमें विरोध आता है। दूसरा हेतु वह प्रमितिका साधकतम नहीं है। तीसरा हेतु वह अनिश्चित पदार्थोंका निश्चय कराने वाला नहीं है। चौथा हेतु जानने वाले लोग ऐसे निर्विकल्प दर्शनकी बात नहीं जोहा करते हैं, इस कारण निर्विकल्प दर्शन तो प्रमाण नहीं, किन्तु विकल्पज्ञान प्रमाणरूप है। इसके साथ ही साथ अवग्रह ज्ञानका जब फल है तो वह प्रमाण भी है।

फलवान होनेसे भी अवग्रहज्ञानमें प्रमाणत्वकी प्रसिद्धि अवग्रह ज्ञानका फल यह है कि वह अपने प्रमाणपनमें निज और पदार्थका निश्चय रखता है, यह तो साक्षात् फल याने अज्ञाननिवृत्ति हो गई और परम्परया फल यह है कि वह ईहाज्ञानको उत्पन्न करता है और जो त्यागने योग्य पदार्थ है, उसके त्यागनेकी बुद्धि दिलाता है, ग्रहण करने योग्य पदार्थको ग्रहण करनेकी बुद्धि दिलाता है, उपेक्षाके योग्य पदार्थको उपेक्षित करनेकी बुद्धि दिलाता है। इसी कारण ये सब विकल्पज्ञान प्रमाणरूप हैं। शंकाकार कहता है कि यह तो प्रमाणसे फलका अभेदरूपसे कथन किया गया याने प्रमाणका फल अज्ञाननिवृत्ति है। तो अज्ञाननिवृत्ति और प्रमाण कोई जुदी चीज तो नहीं है। एक ही चीज रह गए।

तो प्रमाणसे फलका जब भेद न रहा तो उसमें प्रमाण और फलकी व्यवस्था कैसे बनेगी? यह प्रमाण है, यह फल है। यही अभेद व्यवस्था अभेदमें नहीं बन सकती, अन्य व्यवस्था तो क्या बनाई जा सकेगी, क्योंकि अभेद व व्यवस्थामें विरोध है। इस शंकाका सामधान यह है कि कोई भी एक पदार्थ अनेक धर्मात्मक हुआ करता है। तो जब पदार्थ अनेकधर्मस्वरूप है तो ज्ञानसाधकतम भी है और क्रियारूप भी है। तो साधकतमकी दृष्टिसे तो ज्ञानमें प्रमाणता आयी और क्रियाके रूपसे उसमें फलकी व्यवस्था बनी, इसमें कोई विरोध नहीं है। जैसे एक दीपक है, उसमें प्रकाशकत्व धर्म भी है और प्रकाशन क्रिया भी है, वह प्रकाशका कारण भी है और प्रकाश करनेकी क्रिया भी है।

यहाँ यह शंका न रखनी चाहिए कि एक ही ज्ञान कारण बन जाय और क्रिया बन जाय, यह कैसे हो सकेगा? उसमें दो शक्तियाँ हैं जैसे अग्निमें कारण और क्रिया एक साथ पायी जाती हैं, अर्थात् अग्नि गर्मीके द्वारा जलती है। तो जलानेकी क्रिया भी है और उसके कारण गर्मी भी है। तो जैसे एक साथ अग्निमें दो शक्तियाँ देखी गई, उसी प्रकार ज्ञानमें भी प्रमाणत्व और क्रिया ये दोनों पायी जा सकती हैं। तो पदार्थ अनेक धर्मात्मक है, इसलिए उसका कारण बननेमें और क्रिया बननेमें परस्पर विरोध नहीं है। इस तरह अवग्रहज्ञान प्रमाणरूप है और वह अज्ञाननिवृत्ति करता है, यह तो उसका साक्षात् फल है और उसका परम्परया फल है हेय वस्तुमें हानिकी बुद्धि कराना, उपादेय वस्तुमें ग्रहणकी बुद्धि कराना वह उपेक्ष्य वस्तुमें उपेक्षाकी बुद्धि कराना। अतः प्रमितिमें साधकता व फलवान् अवग्रहज्ञान प्रमाण है।

अवग्रहज्ञानकी प्रमाणताके विषयमें शंका व समाधान यहाँ शंकाकार कहता है कि पदार्थका याने परमार्थ स्वलक्षणका ग्रहण तो परमार्थभूत निर्विकल्प दर्शन द्वारा हो चुका है अर्थात् निर्विकल्प प्रत्यक्षसे वस्तुका ग्रहण हो चुका है, उसके बाद फिर अवस्तुभूत पदार्थको विषय कर रहा है। अवग्रहज्ञान याने अवग्रहज्ञानसे अन्यापोह ही तो समझा गया। अन्यापोहका अर्थ है अन्यका निवारण कर देना। जैसे प्रथम ही कुछ दीखा तो जब तक उसमें अमुक पदार्थ है, ऐसा विकल्प नहीं बनता तब तक तो वह सही ज्ञान है, क्योंकि उसमें परमार्थ स्वलक्षणको जाना। अब जहाँ पदार्थकी सत्ता ज्ञानमें आती है। जैसे कि यह घड़ा है तो इसका अर्थ है कि उस ज्ञानमें यह आया कि अन्य कुछ पदार्थ नहीं है, अघट नहीं है। घड़ेको छोड़कर अन्य पदार्थ नहीं है ऐसा बोध हुआ अवग्रहज्ञान में। सो यह बोध तो अवस्तुभूत है। सो यों अवग्रहज्ञान अस्पष्ट ज्ञान रहा। यदि उस अवग्रहज्ञानको निर्विकल्प प्रत्यक्षके पीछे हुआ न माना जाये और यों कह दिया जाये कि अवग्रहज्ञान भी निर्विकल्प दर्शनके साथ ही उसी समयमें हुआ तो ऐसा अवग्रहरूप विकल्पज्ञान प्रमाणसे बाधित होता है। इस कारण अवग्रहज्ञान प्रमाणभूत नहीं, किन्तु निर्विकल्प दर्शन ही प्रमाणभूत है।

इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि जब सम्यक् प्रतीतिपूर्वक ज्ञात हो रहा कि यहाँ स्व और अर्थका सम्वेदन है तो वहाँ निर्विकल्प कैसे कहा जा सकता है? अवग्रहज्ञान तो इन्द्रियजन्य ज्ञान है और निश्चयात्मक ज्ञान है। यद्यपि उसमें ईहा और अवायकी तरह निश्चय नहीं पड़ा, फिर भी जाना वह

तो निश्चय ही है। अवधारण न हो, पर समझा तो गयाही। निर्विकल्प ज्ञानोंसे पदार्थका सम्वेदन नहीं हो पाता, सविकल्प ज्ञानकी भी महत्ता समझनी चाहिए। और फिर ज्ञान तो जितने भी होते हैं सब सविकल्प होते हैं अर्थात् अर्थाकारका परिचय रखने वाले होते हैं। यहाँ बात यह चल रही है कि सबसे पहले तो होता है दर्शन। उसके बाद होता है अवग्रहज्ञान। इसे क्षणिकवादी यों कहते हैं कि दर्शनका अर्थ है निर्विकल्प प्रत्यक्ष और अवग्रहका अर्थ है सविकल्प प्रत्यक्ष। वास्तविक अर्थ तो निर्विकल्प प्रत्यक्षके विषयमें हैं। सविकल्प प्रत्यक्ष तो अन्यापोह रूप सामान्य विषय करता है, इस कारण अवग्रह ज्ञान अप्रमाण है, किन्तु उनका यह कथन प्रतीति विरुद्ध है। निर्णायक ज्ञान तो सविकल्प ज्ञान ही हो पाता है। जिसे कि निर्विकल्पज्ञान कहते हैं वह तो मात्र दर्शन है।

निर्विकल्प और सविकल्प ज्ञानोंके धर्मोंका एक-दूसरेमें अध्यारोप माननेके व्यर्थ परिश्रमका निरूपण अब इस प्रसंगमें क्षणिकवादियोंका एक सिद्धान्त और समझना चाहिए। वह ज्ञानपरिणतियोंको दो प्रकारसे मानते हैं एक तो यह कि एक ही ज्ञानधारामें निर्विकल्पज्ञान और सविकल्पज्ञान क्रमसे शीघ्र-शीघ्र उत्पन्न होते रहते हैं और तब जैसे शीघ्र पहिया घुमाया जाय तो उसमें जो जुदे-जुदे आरे रहते हैं, भाग उन भागोंके एकपने जैसा ज्ञान होता है। अतिशीघ्र भ्रमणमें तो उनको अन्तराल भी दृष्टिसे अगोचर रहता है। और कभी-कभी तो बिल्कुल पोलसी ही दिखाई देती है। तो इस ही तरह वहाँ ज्ञानधारामें आगे-पीछे जो निर्विकल्प सविकल्प ज्ञान हो रहे सो उनका ऐक्य प्रतिभासित होता है। दूसरी बात क्षणिकवादी यों भी मानते हैं कि उनदो ज्ञानधारावोंकी साथ-साथ प्रवृत्ति हो रही है, इस कारण उन सविकल्प अविकल्प मन स्वरूप दोनों ज्ञानोंकी युगपत् प्रवृत्ति होनेके कारण व्यवहारी जन मोहवश सविकल्पज्ञान और निर्विकल्पज्ञानमें एकत्वका निर्णय कर बैठते हैं। इससे व्यवहारी लोग सविकल्पज्ञानका जो निर्णय करना धर्म है उसका निर्विकल्पज्ञानमें आरोप कर बैठते हैं और उसका निर्विकल्पज्ञानमें जो स्पष्टता धर्म है उसका सविकल्प मिथ्याज्ञानमें आरोप कर बैठते हैं।

सारांश यह है कि जो प्रतिभास होता है कि सविकल्पज्ञान तो स्पष्ट है और निर्विकल्पज्ञान भी निर्णायक है, सो बात तो यह है कि स्पष्टता तो है निर्विकल्पज्ञान में, पर एक साथ होनेके कारण या अतिशीघ्र होनेके कारण निर्विकल्पज्ञानकी स्पष्टताका आरोप सविकल्प ज्ञानमें किया जाता है। इसी प्रकार सविकल्प ज्ञान तो है निर्णायक, किन्तु एक साथ होनेके कारण या शीघ्र होनेके कारण सविकल्प ज्ञानके निर्णयका आरोप निर्विकल्प ज्ञानमें किया जाता है। इस तरह क्षणिकवादी मानते तो हैं निर्विकल्पज्ञानको ही प्रमाण और स्पष्ट और सविकल्पज्ञानको अप्रमाण और अस्पष्ट मानते हैं और प्रतीति से, भ्रम सिद्ध करते हैं, किन्तु क्षणिकवादियोंका यह कथन संगत नहीं है, क्योंकि दोनों ज्ञानोंका जब अपना-अपना व्यवसाय, विषय प्रतिभास जुदा-जुदा है तो उसमें एकका दूसरेमें आरोप करनेका कोई स्थान नहीं रहता। अगर एकके धर्मका दूसरेके धर्ममें आरोप कर दिया जाये तो कोई भी धर्म किसीका अपनी निजी नहीं रह सकता। फिर तो कोई यों भी बक सकता है कि आत्माके ज्ञानका आरोप घटके रूपमें कर दो। घटके रूपका आरोप आत्माके ज्ञानमें कर दो। यों तो सर्व अव्यवस्था

हो जायगी। और यों फिर व्यवहारमें न किसीका पुत्र, मकान, स्त्री, धन कुछ भी निर्णय नहीं रख सकते। किसीका किसीमें आरोप करके किसीका स्त्री, पुत्र किसीका भी सिद्ध कर डालें। तो इस तरह निर्विकल्प दर्शनका विषय अलग है, अवग्रहज्ञानका विषय अलग है। उसमें एक दूसरेका आरोप करके अवग्रहज्ञानको व्यर्थ सिद्ध करनेका प्रयास व्यर्थ है।

स्वपरव्यवसायात्मक अवग्रहज्ञानमें निरारोष स्पष्टता सम्यग्ज्ञानका स्वभाव स्वपर निर्णय करना है। चाहे कोई बड़ा ज्ञान हो, चाहे कोई अल्प ज्ञान हो, मगर ज्ञानके स्वरूपकी झलक सभी ज्ञानोंमें है। जैसे चाहे छोटासा टिमटिमाता हुआ दीपक हो और चाहे महान प्रकाशक सूर्य हो, पर स्वपर-प्रकाशकता दोनों जगह एक समान है। इसी प्रकार सब जीव एक समान हैं, ज्ञानका स्वरूप भी एक समान है, सभी स्वपर-प्रकाशक हैं। अब उनमें कुछ अन्य बातोंकी विशेषता होती है। कोई ज्ञान अस्पष्ट है, कोई ज्ञान स्पष्ट है, उनमें किसीकी अस्पष्टताका स्पष्टमें आरोप करना और किसीकी स्पष्टताका अस्पष्टमें आरोप करना यह तो मात्र अज्ञानपन है। और भी विचार करिये-स्पष्ट और अस्पष्टको मिला देने और आरोप करनेका कारण यह ही तो बताया था क्षणिकवादियोंने कि निर्विकल्पज्ञान और सविकल्पज्ञान एक साथ होते हैं। तो एक साथ होनेके कारण यदि एकके धर्मका दूसरेमें आरोप करना माना जाये तो यह बतायें क्षणिकवादी कि किसी समय कोई गायको तो देख रहा है और घोड़ेका विकल्प करे है याने चिन्तन तो चल रहा था घोड़ेका और सामनेसे गाय निकली तो दर्शन हो गया गायका। तो दर्शन और विकल्प ये दोनों एक साथ हुए ना। तो यहां भी ऐक्य आरोप कर लिया जाय क्या? क्यों नहीं वहां एकपनेका निर्णय करते? दर्शनमें तो गाय मानते और विकल्पमें घोड़ा माने, ऐसा क्यों? वहाँ भी परस्पर धर्मका आरोप होना चाहिए।

यदि क्षणिकवादी यह कहें कि गायका दर्शन और घोड़ेका विकल्प इन दोनों ज्ञानोंमें निकटता नहीं है और इस कारण एकके धर्मका दूसरेमें आरोप नहीं होता, किन्तु एक ही पदार्थका दर्शन हो और उस ही एकका विकल्प हो तो उसमें निकटता मानी जाती है, याने प्रत्यासत्ति मानी जाती और वह प्रत्यासत्ति है एक विषय पर। तब समाधानमें यों समझो कि व्यर्थका परिश्रम क्यों किया जा रहा है? वह प्रत्यासत्ति तादात्म्य सम्बन्धको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। यदि वे कहें कि एक सामग्रीके आधीन होना यह प्रत्यासत्ति है तो यह तो गौदर्शन और अश्वविकल्पमें भी है। इस कारण मानना चाहिए कि एक जीव एक ही पदार्थके बारेमें दर्शन ज्ञान बना रहा है वही एक प्रत्यासत्ति है।

इस कारणका भाव यह लेना कि निर्विकल्प दर्शन और सविकल्प अवग्रह ज्ञान ये एक धारामें चल तो रहे हैं क्रम से, पर इनका विषय जुदा-जुदा है। एकके धर्मका दूसरेमें आरोप नहीं किया जा सकता। तो अवग्रहज्ञान एक स्वतंत्र प्रमाण है, निर्विकल्प दर्शनसे पृथक् उसकी अवस्था है।

स्पष्टज्ञानावरण व अस्पष्टज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यतासे विकसित ज्ञानोंमें स्पष्टता व अस्पष्टताका योग क्षणिकवादियोंके निर्विकल्प ज्ञान और उसके बाद होने वाले सविकल्प ज्ञानमें एकत्वकी बात कहना जब जरूरी पड़ गई और अन्य प्रकारसे सिद्धि न हुई तो उनका यह कहना कि

आत्मामें कोई ऐसी विशेष वासना लगी हुई है तो किन्हीं-किन्हीं दर्शन और विकल्पमें एकत्वका आरोप करती है और गौदर्शन अश्वविकल्प जैसे दर्शन और विकल्पमें एकत्वका निश्चय नहीं करती। यद्यपि सहभावी दोनों ही हैं याने एक अर्थविषयक दर्शन और विकल्प ये भी सहभावी है और गौदर्शन और अश्वविकल्प ये भी सहभावी हैं, तिसपर भी कोई वासना विशेष ऐसी है कि किसीमें एकत्वका आरोप है, किसीमें नहीं। इस मंतव्यके समाधानमें कहते हैं। कि यही बात तो क्षयोपशमरूप योग्यतासे मानी गई है। वह वासना क्या है? क्षयोपशमरूप, योग्यतारूप ही होगी। याने इन्द्रियजन्य विकल्पज्ञानमें जो स्पष्टपना होता है वह स्पष्ट ज्ञानावरण क्षयोपशमके कारण होता है। यह स्पष्टता अनुमान आदिकमें नहीं होती, क्योंकि वहाँ स्पष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम नहीं है। यही योग्यता कहलाती है इसलिए ज्ञानके विकास योग्यतानुसार होते हैं, ऐसा मानना चाहिए।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि दो प्रकारके अवग्रह ज्ञान हुए। एक तो वस्तुविषयक अर्थात् सामान्य विशेषात्मक वस्तुको विषय करने वाला इसका नाम है अर्थावग्रह। और दूसरा है अव्यक्त शब्द रस, गंध, स्पर्श व्यंजनको जानने वाला। इसका नाम व्यंजनावग्रह। यह अस्पष्ट ज्ञान है। स्पष्टता और अस्पष्टताका सम्बन्ध विषयसे वहाँ नहीं, किन्तु जो विषय करने वाला ज्ञान है उसका कारणभूत ज्ञानावरण क्षयोपशमसे है। तब निष्कर्ष यह हुआ कि स्पष्ट इन्द्रियावग्रह ज्ञानावराके क्षयोपशमरूप योग्यतासे तो अर्थावग्रह होता है और अस्पष्ट इन्द्रियावग्रह ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप योग्यतासे व्यंजनावग्रह होता है। इस प्रकार दर्शनके बाद किसीके व्यंजनावग्रह होता है। उसकी धारा आगे नहीं चलती। किसीके अर्थावग्रह ज्ञान होता है, उसकी धारा आगे चल सकती है। यों अवग्रहके विषयमें उपयोगी तथ्योंका विचार समाप्त हुआ।

मतिविशेषके भेदरूप ईहाज्ञान प्रमाणका निर्देश अब ईहा नामक ज्ञानका विचार करनेके लिए उपक्रम होता है। ईहाज्ञान कहते हैं उसे कि अवग्रह ज्ञानसे गृहीत पदार्थके विषयमें जिज्ञासाकी पूर्ति जैसे करता हो, ऐसा जो प्रारम्भिक निश्चय है उसे ईहा कहते हैं। तो ऐसा ईहाका विशेष विवरण जानना हो तो इसके सम्बंधमें तीन विकल्प उठाये जाने चाहिए। क्या ईहाज्ञान मनसे ही उत्पन्न होता है, क्या ईहाज्ञान इन्द्रियसे ही उत्पन्न होता है, क्या ईहाज्ञान इन्द्रिय और मन दोनोंके उभयसे ही उत्पन्न होता है? इन तीन विकल्पों मेंसे यदि प्रथम विकल्प उपस्थित किया जाय कि ईहाज्ञान केवल मनसे ही उत्पन्न होता है तो यह बात संगत नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतीति हो रही है कि ईहा सभी इन्द्रियके व्यापारोंकी अपेक्षा रखता है। आत्मा और इन्द्रियका व्यापार न हो तो ईहाकी उत्पत्ति नहीं होती। इस कारण ईहा केवल मनसे ही उत्पन्न हो जाता, यह बात सही नहीं है। इसका कारण यह है कि ईहाज्ञान स्पष्ट ज्ञान है, केवल मनसे होने वाला ज्ञान स्पष्ट नहीं होता है। और दूसरा कारण यह है कि ईहाज्ञान इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानके तुरन्त बाद होता है और अवग्रहज्ञान इन्द्रियज है। तो इस तरह ईहाज्ञान भी केवल मनसे उत्पन्न हुआ न बनेगा। मनसे जो मति बनती है वह मानसप्रत्यक्ष

तो है, परमानसप्रत्यक्ष सब ईहा नहीं कहलाते। मानसप्रत्यक्षके अतिरिक्त भी सविकल्पज्ञान, निश्चयात्मक ज्ञान, ईहाज्ञान सम्भव है।

ईहाज्ञानकी अक्षजता, स्पष्टता व प्रमाणताके विषयमें शंका व समाधान यहाँ कोई क्षणिकवादी शंका करते हैं कि ईहाज्ञानमें तो जाति, सम्बंध शब्दयोजना आदिक कल्पनायें नहीं बनतीं, इस कारण वह भ्रान्तिरहित भी है और इसी कारण ईहाज्ञान अनिश्चयस्वरूप है, निश्चयात्मक नहीं है, क्योंकि जो भ्रान्तिरहित निर्विकल्प ज्ञान हो वह निश्चयस्वरूप नहीं हो सकता है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि ईहाज्ञान मनसे उत्पन्न हुआ मानसप्रत्यक्ष ही नहीं है, क्योंकि इन्द्रियजन्य अवग्रहज्ञानके बाद ही हो जाता है, इस कारण ईहाज्ञान निश्चयात्मक है, अग्रहीतग्राही है, जानने वाले इसकी अपेक्षा रखते हैं। संशय, विपर्यय आदिक दोषोंका निषेध करने वाला है तब वह ईहाज्ञान स्पष्ट है और निश्चायक है। यह केवल झूठा कल्पनारूप नहीं है यह ईहाज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है और स्वसम्वेदन प्रत्यक्षसे भी ईहाज्ञान प्रत्यक्षस्वरूप प्रतीत होता है। इस कारण कल्पनारूप ज्ञान न समझना ईहाज्ञानको और ईहाज्ञान ही एक पर्याप्त है निर्णयकी ओर ले जानेके लिए। वहाँ अन्य कल्पनायें करना व्यर्थ है। यदि ईहाको मनसे उत्पन्न हुआ स्मरणज्ञान जैसा माना जायेगा तो फिर ईहाके बाह्य इन्द्रियजन्य ज्ञानसे उत्पत्ति मानता असम्भव हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान और मानसिक स्मरणज्ञान, इन दोनोंकी जाति अलग-अलग है। विजातीय ज्ञानसे अन्य ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती, और अगर मान ली जाये तो इसका अर्थ यह हुआ कि मानसप्रत्यक्षका कारण पूर्ववर्ती इन्द्रियज्ञान हो गया। फिर तो इन दोनोंमें विशेषता ही न रहेगी।

यदि क्षणिकवादी यह कहें कि परमार्थ वस्तुको स्पष्ट विषय कर लेनेसे वह तो मानसप्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य ज्ञानके समान है तब तो यह बात हुई ना कि इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षमें प्रत्यक्षपनेसे सजातीयता सिद्ध हो गई। चाहे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षज्ञान हो, चाहे मानसिक प्रत्यक्ष हो, प्रत्यक्षपनेकी जातिसे दोनों सजातीय हो गए और इस तरहसे स्मरण और ईहाका उपादान कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान हो सकता है, क्योंकि ज्ञानपनेसे सजातीयता है और ऐसी सजातीयता यदि न मानी जाये तो स्मरणके साथ मानसिक प्रत्यक्ष न हो सकेगा, क्योंकि सजातीयता भी न रही और फिर मानसप्रत्यक्षको स्मरणका उपादानका कारण न माना जा सकेगा, फिर तो प्रसंग यह है कि इन्द्रियज्ञान और स्मरणके बीचमें मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ है, इन्द्रियज्ञानसे ही आगे स्मरण उत्पन्न हो जायेगा।

एक ही संतानमें योग्यतानुसार विविध ज्ञानोंका अभ्युदय यदि क्षणिकवादी यह कहें कि यहाँ तो दो संतान हैं भिन्न-भिन्न, एक है स्मरणज्ञानकी संतान, दूसरी है इन्द्रियज ज्ञानकी संतान, और इस कारणसे स्मरणका उपादान कारण इन्द्रियज्ञान नहीं होता। इसका समाधान यह है कि फिर तो शंकाकारके यहाँ मानसप्रत्यक्षकी कल्पना करना व्यर्थ रहा, क्योंकि दो संतान हो गईं। इन्द्रियज्ञानकी धारामें इन्द्रियज्ञान चलेगा, स्मरणज्ञानकी संततिमें स्मरणसे स्मरण चलता रहेगा। यदि इन्द्रियज्ञान

और स्मरणज्ञान इन दोनोंको एक संतान स्वीकार लेंगे तब तो इन्द्रियज्ञानसे स्मृतिकी उत्पत्ति बन जायगी, फिर तो एक विशेषताका अन्तर ही रहा। वासनारहित इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियज्ञान बनेगा और वासनासहित इन्द्रियज्ञानसे स्मरणज्ञान बन जायेगा। सो दो संतानधारायें माननेपर यह दोष है कि कमी दोनों ही एक साथ बन जायें, क्योंकि भिन्न-भिन्न संतान हैं, इन्द्रियज्ञान और स्मरणज्ञान एक ही समयमें हो जाना चाहिए, और फिर बीचमें मानसिक ज्ञानकी कल्पना करना व्यर्थ रहा, ये समस्त दोष स्याद्वादमें नहीं आते, क्योंकि ज्ञानावरणका क्षयोपशमरूप योग्यता ही सारी व्यवस्था बना लेती है। सजातीय, विजातीय ज्ञानोंकी एक संतान हो जाये, इन्द्रियज्ञानके बादमें स्मरण आवरणका क्षयोपशम हो, यों स्मरणज्ञान हो जायेगा, अन्यथा इन्द्रियज्ञानसे इन्द्रियज्ञान बन जायेगा। एक चेतनकी धारामें है यह सब ज्ञान। आवरण कर्मके क्षयोपशमके अनुसार ज्ञान व्यक्त होते रहते हैं। जब क्षय हो जाता है तो उस ही एक संतानमें केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है और कही अवधिज्ञान श्रुतज्ञानका कारण बने, श्रुतज्ञान अवधिज्ञानका कारण बने, मनःपर्ययज्ञानका कारण बने, केवलज्ञान कारण बने। एक संतानमें इन सब ज्ञानोंकी योग्यतानुसार होनेमें ही कोई विरोध नहीं है। और इस प्रकार जब स्व और अर्थका निश्चय करने वाला मानसप्रत्यक्ष शंकाकारने मान लिया, तब फिर इन्द्रियजन्य निर्विकल्प कल्पनापोढ ज्ञानके माननेका प्रयोजन क्या रहा? जब मानसप्रत्यक्ष स्व-परका निर्णय बन गया तो इन्द्रियजन्य निर्विकल्प ज्ञान मानना ऐसा व्यर्थ है, जैसे छेड़ी (बकरी) के गलेमें दो थन लगाना व्यर्थ है।

ईहाज्ञानकी इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्ता, प्रत्यक्षपरोक्षरूपता व व्यक्तिशक्तिरूपता यहाँ क्षणिकवादी यह कहते हैं कि अवग्रह आदिक ज्ञान तो सविकल्प ज्ञान हैं, उनकी उत्पत्ति इन्द्रियजन्य निर्विकल्प ज्ञानके न होनेपर नहीं हो सकती। अगर इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके बिना मानसप्रत्यक्ष हो जाने लगे तो जितने अंधे बहरे जीव हैं उनको भी मानसप्रत्यक्ष हो जाये। अतः इन्द्रियप्रत्यक्षकी कल्पना एक सफल कल्पना है। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि बात तो ठीक है, पर उसे यों ही तो मानना पड़ा कि इन्द्रिय और अनिन्द्रियसे जिसकी उत्पत्ति होती है, जो स्व और अर्थका निश्चय करने वाला है ऐसा ज्ञान ही सब व्यवस्था करता है, इसीके मायने हैं कि ईहा आदिक ज्ञान। उक्त समस्त कथनका निष्कर्ष यह हुआ कि द्रव्य और पर्यायको विषय करने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा क्रमसे होते हैं और ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषके अनुसार उनकी क्रमशः उत्पत्ति होती है। क्षयोपशम विशेष ही इस ढंगका है कि इन ज्ञानोंमें इस क्रमका वह कारण है और वह ज्ञान एक ही समयमें प्रत्यक्ष है, परोक्ष है, अपने ग्रहणकी अपेक्षासे प्रत्यक्ष है और विषय अंशकी अपेक्षासे परोक्ष है। यह ही ज्ञान उपयोगरूप व्यक्तिसे सहित है और योग्यतारूप शक्तिसे सहित है, इसी कारण ये एक अर्थ वाले हैं। कोई दर्शनिक शुद्ध ज्ञान अंशको प्रत्यक्ष मानते, वेद्य वेदक अंशोंसे परोक्ष मानते, किन्तु इस तरह एक ज्ञानकी प्रत्यक्षता परोक्षता नहीं है। स्वग्रहणकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है, विषयांशकी अपेक्षा परोक्ष है। कोई दार्शनिक ज्ञानांशकी व्यक्ति मानते हैं और वेद्य वेदक सम्बन्धि अंशोंके विवेकके ज्ञानकी शक्ति मानते

हैं, पर ऐसी व्यक्ति शक्ति नहीं है। जो उपयोगरूप जानन है सो व्यक्ति है और जो क्षयोपशमरूप, लब्धिरूप योग्यतासे सो शक्ति है, ऐसी लब्धि और उपयोग सहित अवग्रह ज्ञान, ईहाज्ञान आदि ये सब अर्थकी व्यवस्था करनेमें समर्थ हैं।

मतिविशेषके भेदरूप अवायज्ञान प्रमाणका निरूपण मति विशेषके भेदोंमें जो अवायज्ञान बताया गया है उसका स्वरूप क्या है, उसीको कहते हैं। सर्वप्रथम तो निर्विकल्पदर्शन हुआ था, उसके पश्चात् अवग्रहज्ञान हुआ। अवग्रहज्ञानमें विशेषोंको सामान्य रूपसे जाना था। अब ईहाज्ञानमें उसको और विशेषरूपसे जाना। ईहाज्ञानका जानना आकांक्षा सहित है याने अवग्रहज्ञानसे जानकर साथ ही जिज्ञासा बनती है कि क्या है? उन जिज्ञासाकी पूर्तिके साथ-साथ जो विशेष ज्ञान हुआ वह ईहाज्ञान है, लेकिन ईहाज्ञानमें जाना तो गया सही, फिर भी इसमें अवधारण नहीं है। जैसा कि वाक्योंका प्रयोग होता है, बन गए वाक्य और उसके साथ एव शब्द और लग जाये तो उसका अवधारण कहलाता है। एव न भी लगे तो भी कुछ वाच्य तो हैं ही और एव लगनेसे उसका पूर्ण निर्णय होता है। इसी प्रकार ईहा ज्ञानमें जाना तो गया द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु, पर उसे जाननेके पश्चात् सम्भव है कि संशय विपर्यय ज्ञान बन सकते हैं। ईहा स्वयं संशय नहीं है, न विपर्यय है, यह तो सम्यग्ज्ञान है, पर सम्भव है कि संशय विपर्यय हो सकता इस ढंगका निश्चयात्मक ज्ञान है ईहा, पर उस ईहाज्ञानमें जब निर्णय हो जाता, अवधारण बन गया कि यह ही है, ऐसा जो इन्द्रियज स्पष्ट ज्ञान है वह अवायज्ञान है। यह अवायज्ञान अवायज्ञानावरणके क्षयोपशमसे हुआ है। अवायज्ञानके न होने पर ईहाज्ञानसे जान लिये गये विषयोंमें किसी कारण संशय या विपर्यय ज्ञान भी हो सकता है। और अवायज्ञान होनेपर संशय विपर्यय नहीं हो सकता है, हो ही नहीं सकता। अवधारण है, इस तरह निश्चयात्मक होनेपर भी ईहाज्ञानसे अवायमें अन्तर पाया जाता है।

अवग्रहज्ञानने जो जाना सो अपने अंशका निर्णय करा दिया। ईहाज्ञानने जो जाना उसने अपने विशेष अंशका निर्णय करा दिया। अब इससे और आगे ऐसा दृढ़तम ज्ञान बने कि संशय विपर्यय न सम्भव हो सके, वह बात यहाँ तक न आ पायी थी। संशय विपर्ययकी सम्भावना ही न रही, इस तरहका दृढ़तम ज्ञान हुआ है अवायज्ञान में। यों तो पदार्थोंमें अनेक विशेष अंश ऐसे पड़े हुए हैं कि जिनको बड़े-बड़े ज्ञान तो क्या, केवलज्ञानके सिवाय अन्य कोई भी नहीं जान सकता। फिर भी अपने-अपने विषयमें निश्चय होता है और अवधारण होता है। यह अवायज्ञान संशय और विपर्यय ज्ञानोंसे उल्टे स्वभाव वाला है। अवायके बाद संशय आदिक ज्ञानोंकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि अवायज्ञान पूर्ण दृढ़ स्वरूप है। इन्द्रियजन्य ज्ञान तो ये सभी हैं, उसकी अपेक्षासे देखा जाये तो अवग्रह ईहा और अवाय तीनों एक जातीय हैं। चेतन आत्माका क्रमसे अवग्रह, ईहा, अवाय, ज्ञान रूपसे परिणमन होता है। इन्द्रिय और आत्माकी सहायतासे आत्मा तो जाननहार ही है, इन्द्रिय बलाधानरूप हैं, इस प्रकार क्रम करके हुई, और क्षयोपशमके अनुसार इन चार ज्ञानोंका उत्पाद होता है, यह बात स्पष्ट अनुभवमें आ रही है।

गृहीत अर्थमें उपयोगविशेष होनेके कारण अवाय व धारणा ज्ञानमें सर्वथा गृहीतग्राहित्व न होनेसे स्पष्ट प्रमाणरूपता अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखो जिस पदार्थको अवग्रहने ग्रहण किया, उसके ग्रहण किए गए पदार्थके ही विशेष अंशमें ईहाज्ञानकी प्रवृत्ति है। सो यों ईहाज्ञान तो कुछ विशेष ज्ञान है। यहाँ तक तो प्रमाणपनेका निर्वाह ठीक हो सकता है, किन्तु अवायज्ञान तो ठीक उसी ही विषयको जान रहा जिस विषयमें ईहाज्ञानकी प्रवृत्ति हुई। और इसी तरह धारणामें भी वही विषय जाना जा रहा है जो ईहा द्वारा जाना गया था। तो अवाय और धारणा ये दोनों ज्ञान गृहीतग्राही कहलाये और गृहीतग्राही ज्ञान प्रमाण नहीं कहलाते, इसलिए अवग्रह और ईहा ये दो भेद ही कहे जाने चाहिए थे। अवाय और धारणा न कहा जाना चाहिए था। इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि सम्यक् ईहा ज्ञानके द्वारा जाने गए अर्थमें अवाय और धारणा, इन दोनोंकी प्रवृत्ति हो रही है, ऐसा बताकर गृहीतग्राही कहकर अवाय और धारणाको यदि प्रमाण न माना जायेगा तब तो अनुमान प्रमाण न बन सकेगा या अनुमान प्रमाण अप्रमाणपनेका व्यापार कर बैठेगा। अनुमान अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि अब तो यह नियम बना दिया शंकाकारने कि किसी प्रमाणसे गृहीत अर्थको ग्रहण करे वह ज्ञान गृहीतग्राही है और अप्रमाण है। तो यों अनुमान अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि वह अनुमान भी व्याप्ति ज्ञानसे ग्रहण किए गए विषयको ही चलता है और इस तरह तो स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदिक सभी अप्रमाण हो जायेंगे, इसलिए सर्वथा एकान्त यह न करना चाहिए कि किसी ज्ञानके द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थका ग्रहण करे वह अप्रमाण है। भले ही किसी प्रमाणके द्वारा ग्रहण किया गया, लेकिन उसमें कुछ नवीनता आये तो गृहीतग्राहीका दोष नहीं माना जाता, और वहाँ भी देखे गए पदार्थ भी स्मरण हो जानेके कारण अदृष्टके समान हो जाते हैं। इसी तरह ग्रहण किए गए पदार्थमें भी विशेष-विशेष अंशों को ग्रहण करनेसे वह गृहीतग्राही नहीं रहता, किन्तु प्रमाण हो जाता है।

अवाय और धारणा ज्ञानमें भी यही कला है। भले ही जिस ही पदार्थको दर्शनने देखा उस ही को अवग्रहने जाना, उस ही को ईहाने जाना, उस ही को अवायने और उस ही को धारणाने जाना, लेकिन इन सब ज्ञानोंका उत्तरोत्तर विषय विशेष और स्पष्ट होता जा रहा है। अवाय और धारणा ज्ञान भी स्व और अर्थको जाननेमें सही है अतएव प्रमाण हैं। गृहीतका ग्रहण तो किया मगर अब विशेष उपयोग बन रहा, जिन अंशोंका अवग्रह और ईहा ज्ञानने स्पर्श भी न किया था उन विशेषोंका उपयोग अवाय और धारणा ज्ञानमें हो रहा। जैसे ईहाज्ञान तो इतने दर्जेमें जान रहा था कि जो संशय विपर्यय आदिकका कारण बन सकता था, अर्थात् संशय विपर्यय ज्ञानके लिए भी तो बुद्धि चाहिए। इतनी बुद्धिकी पात्रता ईहा ज्ञान तक आ जाती है। तो ईहा ज्ञान तो समारोपके कारणपनेको करके जान रहा था, उस प्रकार अवाय तो नहीं जानता, क्योंकि अवाय ज्ञान अपने विषयको जाननेमें अत्यन्त दृढ़ है। ईहा ज्ञान होनेके बाद संशय, विपर्यय हो सकता है, अवाय ज्ञान होनेके बाद संशय विपर्ययकी सम्भावना ही नहीं। तो इसमें उपयोग विशेष नहीं आया क्या? और अवायसे धारणामें

क्या विशेषता है कि अवायसे जान लेनेपर कदाचित् विस्मरण हो सकता है, उसका स्मरण न आये, मगर धारणा ज्ञानसे जान कर उसका विस्मरण नहीं होता। धारणा ज्ञान विस्मरणके अभावरूपके कारणपनेसे जान रहा है, याने अवायज्ञान तो विस्मरणका कारण हुए पनसे उस पदार्थको जानता है, पर धारणाज्ञान उस तरह नहीं जानता। कालान्तरमें विस्मरण न होने देनेका कारण बने इस ढंगसे जानता है। इस कारण अवायज्ञानसे धारणाज्ञानमें विशेष उपयोग हुआ। तब ही तो बताया है कि स्मरणका कारण सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है और सांख्यवहारिक प्रत्यक्षोंमें धारणा।

परोक्षज्ञानोमें कारणकार्यरूपताकी एक विहंगमदृष्टि अब प्रथम और द्वितीय सूत्रको याने 'अवग्रहेअवायधारणाः' और 'मतिःस्मृतिः' आदिक इनको एक जगह कर कारणपनेकी बात सोचें तो यों देखा जायेगा कि अनुमान ज्ञानका जनक तो है तर्क, तर्कका जनक है प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानका जनक है स्मरण, स्मरणका जनक है धारणाज्ञान, धारणाका जनक है अवाय, अवायका जनक ईहा, ईहाका जनक अवग्रह और अवग्रह उत्पन्न हुआ दर्शनके बाद। किसी भी पदार्थको जाना, उसमें कोई त्रुटि रह गई, उसे भी जान ले तो यह गृहीतग्राही न कहलायेगा, किन्तु विशेष अंशको ग्रहण करने वाला कहलाया। इस प्रकार मतिविशेष नामका जो ज्ञान है, जिसका दूसरा नाम सिद्धान्तग्रन्थोंमें आभिनिबोधिक कहा है उसके ये चार भेद कहे गए हैं अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

इनका साधारणरूपसे यह दृष्टान्त हो सकता है कि जाते हुए सामने कोई मनुष्य देखा तो पहले कुछ है इस तरहका प्रतिभास तो है दर्शन, जो मनुष्य है ऐसा प्रतिभास हुआ मानो अवग्रह। अब कैसा है, कौन है? एक ऐसी आकांक्षाकी पूर्तिशी करता हुआ जो यह ज्ञान हुआ कि यह तो मराठा है, यह ज्ञान ठीक चल तो रहा है, पर यहाँ अवधारणरूप दृढ़ता नहीं, सो इतने ज्ञानके बाद संशय भी हो सकता, यही है कि नहीं। तो संशय होकर फिर संशयका निवारण हो तब अवाय कहलाये, ऐसा तो नहीं है, मगर ईहाज्ञानकी विशेषता कहा है कि वह ऐसी स्थितिमें है ज्ञान। उस ईहाज्ञानने जाना कि यह मराठा है और उसीकी दृढ़ता हो जाती है कि यह मराठा ही है। जिसमें संशय, विपर्ययका अवकाश ही नहीं रहता, ऐसा दृढ़ ज्ञान अवायज्ञान कहलाता है। और जो जाना, मराठा ही है, उसे फिर भूले नहीं, स्मरण कर सके, ऐसे दृढ़तम ज्ञानको कहते हैं धारणाज्ञान। इस प्रकार आगेके प्रमाणकी उत्पत्तिके साधनभूत मतिविशेषके ये चार भेद बताये गए हैं। यहाँ तक जाना कि पदार्थ इस प्रकार होते। अब यह समझना है कि ये चार ज्ञान जिस पदार्थको जानते हैं वह क्या पदार्थ है, इसका विषयभूत क्या है? उसका उत्तर अब अगले सूत्रमें देते हैं।

बहुबहुविधक्षिप्रनिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम् ॥ १६ ॥

बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, ध्रुव तथा इनसे विपरीत अर्थात् एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त व अध्रुव इन बारह प्रकार के पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा ज्ञान होता है। यहाँ अवग्रह आदि शब्दोंमें धातुसे कृत् प्रत्यय लगनेसे बहुत आदि विषयोंको षष्ठी विभक्तिमें रखा

है, किन्तु मौलिक अर्थ है बहु, आदिकको अवग्रहता है, ईहता है इत्यादि अर्थात् जानता है। अवग्रह आदि शब्दोंकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है अवगृहाति, ईहते, अवैति, धारयति। इन गणी धातुवोंमें कृत् प्रत्यय लगाकर 'इनको जानता है' इस अर्थको प्रतिपादनेमें षष्ठी विभक्ति लगाई गई है। इसी कारण यह भी शंका नहीं करनी चाहिये कि ज्ञानोंका विषय तो आगे 'मतिश्रुतयोर्निबन्धो' इत्यादि सूत्रोंमें कहा जावेगा ही तब 'बहुबहुविध' आदि सूत्रका कहना व्यर्थ है। यह शंका यों ठीक नहीं कि इस सूत्रमें विषय प्रतिपादनकी मुख्यता नहीं है, किन्तु अवग्रह, ईहा, अवाय व धारणा इन चारोंके प्रभेद बतानेका प्रयोजन है। ये चार ज्ञान १२-१२ प्रकारके होते हैं। इस प्रकार यहाँ तक मतिविशेषके ४८ भेद होते हैं। इन्हींको निमित्तसे भेद करनेपर और अवग्रहके अर्थावग्रह व व्यञ्जनावग्रहको पृथक्-पृथक् समझनेपर इस प्रकार मतिविशेषके भेद हो जाते हैं व्यञ्जनावग्रहके $१२ \times ४ = ४८$, क्योंकि व्यञ्जनावग्रह स्पर्शन, रसना, घ्राण व श्रोत्र इन चार इन्द्रियोंके ही निमित्तसे होता है, चक्षु व मनके निमित्तसे नहीं। अर्थावग्रहके $१२ \times ६ = ७२$, ईहाके $१२ \times ६ = ७२$, अवायके $१२ \times ६ = ७२$ व धारणाके $१२ \times ६ = ७२$, इस प्रकार सब ४८ ७२ ७२ ७२ ७२ = ३३६ भेद मतिविशेष याने सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके हो जाते हैं।

बारह प्रकारके पदार्थोंके अवग्रहण ईहन आदि करनेकी निष्पत्ति मतिविशेषके अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार भेद, ये ज्ञान बहु आदिक पदार्थोंको जानते हैं। यदि केवल अवग्रहण आदि क्रियाका कर्म है बहु आदिक इतना ध्यान रखकर, इसको द्वितीय विभक्तिमें कहते तो लाघव तो हो जाता, किन्तु समझमें कठिन हो जाता, क्योंकि पूर्व सूत्रमें कृत् प्रत्यय लगाकर अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा कहा। अगर क्रियारूपमें प्रयोग होता उन चारोंका तब तो द्वितीया विभक्ति भी लगानेपर इस प्रकृत सूत्रमें अर्थ सूकर हो जाता, लेकिन कोई ऐसा सोचे कि अब कृदन्त याने कृत्प्रत्यान्त शब्दोंसे परिवर्तित कर बुद्धिमें क्रियारूप बना लिया जाये और ऐसी स्थितिमें इस सूत्रमें द्वितीया विभक्ति कर दी जाये तो लाघव हो जायेगा, सो बात संगत नहीं है, क्योंकि लाघवकी जगह टेव रखना अच्छी बात नहीं है। जहाँ गौरव है वहाँ लघुता बतावो तो लोकमें भी उत्तम नहीं माना जाता।

जैसे कोई लोकव्यवहारमें ऐसा लाघव करे कि मान लो कोई अतिथि आया और उसे वस्त्र देना धोती, चादर, साड़ी, वगैरा और वस्त्र न देकर देवे बिनौलेके १००-५० बीज और कहे कि देखो हम वस्त्रोंका भार न देकर वस्त्रोंका बीज दे रहे, जिससे वस्त्र उत्पन्न होते हैं तो इस लघुताको कोई पसंद करेगा क्या? और वही पुरुष जिस पुरुषसे बिनौले भेंट पाकर धोखा खाया जा चुका है तो यहाँ धोखा खाने वालेके घर अतिथि बनकर आये और वह भोजनमें एक-एक अंगुलके गन्नेकी गांठ परोस दे और कहे कि देखो हम मीठेका बीज आपको दे रहे हैं तो वह प्रसन्न हो जायेगा? लाघव जहाँ योग्य है सो ठीक है। यहाँ चूँकि कृत् प्रत्ययमें यह शब्द है वहाँ षष्ठीमें प्रयोग होना उत्तम रहता है अर्थात् अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये बहु आदिक पदार्थोंके होते हैं।

अब यहाँ जिज्ञासा होती है कि बहु बहुविध आदिक जो १२ प्रकार बताये गए हैं वे तो हैं अवग्रह आदिकके कर्म तो इन कर्मोंको और अवग्रहण आदिक क्रियाविशेषका परस्पर सम्बंध किस प्रकार है?

इस बातको सुनो। बहुत बहुविध आदिक १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रहण होता, ईहन होता, अवाय होता, धारण होता, ये प्रत्येक अलग-अलग भेद हैं। भले ही कोई अवग्रह बहुको जान रहा, एकविधको जान रहा, क्षिप्रादिकको जान रहा, एक साथ जान रहा, तो यह क्षयोपशम विशेषकी बात है, मगर सम्बंध लिए है प्रत्येक एक-एकके साथ, और फिर चाहे कुछ अवग्रहादिक क्रियाके विषय ३ भी हों, ४ भी हों, यह बात अलग है, मगर नियमरूपसे तो यहाँ प्रत्येकके साथ सम्बंध करना है। समुदाय रूपसे सम्बंध न करना। जिस आत्माके जब-जब क्षयोपशमविशेष होता है तो संख्याविशेषके रूपमें बहुतका ज्ञान कर लेता है या अधिक प्रमाण वाले विपुल पदार्थका अवग्रह कर लेता है, इसी प्रकार और विशेष क्षयोपशम होनेसे इन्हीं बहुतोंकी ईहा कर लेता है, अवायज्ञान और धारणाज्ञान कर लेता है। इसी तरह प्रत्येकके साथ समझना चाहिए। एकका कर लेना, एकविधका कर लेना, बहुविधका कर लेना, इन १२ प्रकारके पदार्थोंमें चार प्रकारके ज्ञान हुआ करते हैं।

बहु बहुविध आदि पदार्थोंके स्वरूपका संक्षिप्त लक्षण अब यहाँ इन १२ प्रकारोंका थोड़ासा अर्थ समझना है जिसके आधारपर इनमें कुछ अन्तर समझा जाता है। बहुका ज्ञान अर्थात् बहुत पदार्थोंका ज्ञान, विपुल प्रमाण वालेका ज्ञान, विपुल प्रमाणके रूपसे देखो तो वहाँ क्षेत्रमें बहुता बनी, बहुता दिखी और जहाँ संख्या विशेषसे देखा वहाँ व्यक्तिः बहु दीखा। तो बहुत पदार्थोंका ज्ञान होना सो बहु अवग्रह है और बहु प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान होना, यह बहुविध अवग्रह है। क्षिप्र शीघ्र निकल जाने वाले पदार्थोंका अथवा पदार्थोंका शीघ्रतासे ज्ञान कर लेना, अवग्रह कर लेना, क्षिप्रहावग्रह है। कोई पदार्थ पुद्गल उसके अंग पूरे निकले नहीं हैं, एक ही कोई अंग प्रकट है वहाँ चूंकि सब गुप्त हैं। तो कुछ ही अंगोंको देखकर उस सम्पूर्ण अवयवीका ज्ञान कर लेना, यह अनिःसृतावग्रह है। कोई बात कोई कहना चाहता है, कह न सका और बिना ही उसके कहे हुए यह सब कुछ जाना गया, यह उक्तावग्रह है अथवा कोई फलादिक दीखा तो देखनेमें तो रूप ही आया, पर रूपके दिखनेके ही साथ मिठास है कि खटास हैं, ऐसे रसोंका ज्ञान कर लेना तो ऐसा अवग्रह करना भी अनुक्तावग्रह हो गया। जो पदार्थ अचलित हैं उन पदार्थोंका ज्ञान करना ध्रुवावग्रह है। इसी प्रकार इसके उल्टेका भी ज्ञान करना, जैसे एकका ज्ञान करे, अवग्रह करे एकावग्रह है। एक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान करे, जैसे गेहुँवोंका ढेर रखा वह सब एक प्रकारका है, यह एकविधावग्रह है। देरीसे ज्ञान कर सकना या धीरेसे निकालने वाले पदार्थका ज्ञान करना यह अक्षिप्तावग्रह है। पूर्ण प्रकट पुद्गलका ज्ञान करना यह निःसृतावग्रह है। कहे हुएका ज्ञान करना, अवग्रह करना यह उक्तावग्रह है और अध्रुव पदार्थका, नाशशील पदार्थका ज्ञान करना अध्रुवावग्रह है। इस तरह १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह होता, ईहा होता, अवाय होता, धारणा होता।

बहु बहुविध आदि धर्मोंमें परस्पर अन्तरका प्रदर्शन अब एक बात यहाँ और समझनी है कि इनका परस्परमें अन्तर क्या है? जैसे बहु और बहुविध कुछ एकसी बात जंचती है, इनमें अन्तर क्या है? अन्तर यह है कि बहुका ज्ञान होता है तो वह व्यक्तिके आश्रयसे होता है, और बहुविधका ज्ञान

होता है तो वह जातिके आश्रयसे होता है। तो बहुज्ञान व्यक्त्याश्रित है, बहुज्ञान जात्याश्रित है। यह इनमें परस्पर भेद है। इसी प्रकार इसका उल्टा है एक और एकविध। एकका ज्ञान करना व्यक्त्याश्रित है, एकविधका ज्ञान करना जात्याश्रित है। मायने एक ही जातिके पदार्थोंका ज्ञान यह है एकविध ज्ञान। तो इस प्रकार इनमें अंतर है।

अब यहाँ कोई ऐसी जिज्ञासा कर सकता है कि बहु बहुविधका भेद तो आया, मगर बहुत और एकविधमें क्या भेद है? क्योंकि जैसे बहुतसे गोहूँ रखे हैं तो बहुत भी हो गए और एक ही प्रकारके हैं वे एकविध भी हो गए, तो इसमें क्या भेद है? हां भेद है। क्या भेद है कि जहाँ बहुत कहा वहाँ तो जातिकी ओर रंच भी दृष्टि नहीं है और एक व्यक्तिकी ओर ही दृष्टि है। और एकविध कहा तो एक प्रकारकी केवल जातिकी ओर दृष्टि है। भले ही वे एक प्रकारके बहुत हैं, पर एकविध ज्ञानमें उन बहुतों जैसी प्रतीतिकी मुद्रा नहीं है, तो एकविध जब हो जाता तो वहाँ बहुतपनेका व्यवहार नहीं होता। इस प्रकार बहु बहुविध, एक एकविध इन चारका परस्परमें एक दूसरेसे अन्तर आता है।

अब जिज्ञासा होगी कि इस सूत्रमें क्षिप्र और अध्रुव शब्द पड़ा है। क्षिप्रका अर्थ है शीघ्रकालका और चलित स्वरूप अध्रुव कहलाता, तो वह भी सदा रहनेका नहीं है। तो एक समान जैसे हो गया तो क्षिप्र और अध्रुवमें क्या अन्तर है? अन्तर यह है कि क्षिप्रमें तो शीघ्र ही जाननेका विषय हो जाना पन है। क्षिप्र ज्ञान मायने शीघ्र ही बोध हो गया और अध्रुवज्ञान में, चरितपनेकी अनियत पदार्थोंकी जानकारी होती है ऐसा विषय पड़ा है। यों समझिये कि क्षिप्र तो ज्ञानका विशेषण बनकर भेद बनता है और अध्रुवमें अर्थका विशेषण बनकर इसका ज्ञान बनता है। अब निःसृत और उक्तमें क्या अन्तर है, इस बात पर ध्यान देना है। निःसृत क्या कहलाता है? सम्पूर्ण पुद्गलका एकदम प्रकट रूप होना, बाहर निकला रहना, यह तो निःसृत होता है और अनिःसृत वह कहलाता है कि उस एक पदार्थमें कुछ अंशोंके निकलनेसे जो ज्ञान बनता है वह अनिःसृत है और अनुक्त कहलाता है, अभिप्रायोंसे जान लिया, न भी कहे तो भी अभिप्रायसे जान लिया, वह कहलाता है अनुक्तका ज्ञान और पूर्णरूपसे कह दे वह कहलाता है उक्त। तो अब यहाँ कोई यों पूछे कि उक्तमें और निःसृतमें क्या अन्तर है? उक्तमें भी यही बात आयी कि पूर्ण कह दिया, निःसृतमें भी यही बात आयी कि पूर्ण निकला हुआ है। तो सम्पूर्ण शब्दोंका मुख द्वारा निःसरण हुआ तब सुना और सुननेसे एक कर्णइन्द्रियजन्य ज्ञान बना तो उसे भी निःसृत ज्ञान ही कह देना चाहिए। उक्त ज्ञान भी इसी प्रकारसे है।

समाधान यह है कि दूसरेके उपदेशपूर्वक शब्दजन्य वाच्यका ग्रहण होना सो तो उक्तका ज्ञान है, स्वतः उनका ग्रहण होना वह निःसृत है। उक्तमें भी यद्यपि एक तरहसे निकला हुआ ही है शब्द और निःसृत पदार्थोंमें जैसे जो कुछ पूरे दिख रहे हैं मनुष्य, पशु आदिक वे भी निकले हुए हैं, लेकिन निःसृतमें तो स्वयं ज्ञान कर लो। निकलेका ज्ञान कर लिया, पर उक्तमें तो दूसरा कुछ कहे, उसके कथनसे जन्य है यह उक्त और उसका ज्ञान करना कहलाता है उक्तज्ञान। तो शब्दजन्य वाच्यका ग्रहण है उपदेशपूर्वक, उसे तो उक्त बोलते हैं और जो स्वतः ग्रहण हो गया वह निःसृत है। इस प्रकार

अनिःसृत और अनुक्तकी बात समझना है। अनिःसृतके मायने हैं कोई पदार्थ पूरा नहीं निकला, कुछ ही हिस्सेको देखकर उस पदार्थका ज्ञान कर लेना। जैसे जलमें कोई हाथी डूबा है, केवल ऊपर एक सूंड मात्र ही निकली है तो जरासी सूंड देखकर हाथीका ज्ञान कर लेना, यह अनिःसृत मतिज्ञान है, और बाहर खड़ा है पूरा, उसे जान रहा है हाथीका ज्ञान निःसृत ज्ञान है। तो अनुक्तमें तो अभिप्रायवश जानकारी होती है और उसमें परोपदेशका कोई सम्बंध है, कुछ भी थोड़ा कहा, उससे जाना, किन्तु अनिःसृतमें तो स्वतः ग्रहण करने जैसी बात है, और फिर इन सबका एक-एक रूपसे जान होना, यह तो कहा ही है, पर दोका मिलकर, चारका मिलकर भी हुआ ज्ञान वह भी मति विशेष ही है। जो एकविध निःसृत क्षिप्र एक ही ज्ञानमें सब आ रहे हों तो भी इसमें कोई अनिष्ट बात नहीं है।

सूत्रमें बहुबहुविध आदि शब्दोंको प्रधानता देनेकी कारणकी जिज्ञासा व उसका समाधान अब यहाँ एक आशंका होती कि जो सूत्र रचनाकी गई है उसमें मुख्यरूपसे बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव, ये छः बातें कही हैं तो यह तो पूरे-पूरे शब्दोंमें कहा गया कि और शेष ६ को इतर शब्द डालकर इससे उल्टा बताकर उनसे उल्टी ६ बातें कही तो जाती हैं, मगर प्रयोगकी कला ऐसी है कि जिससे पूरे शब्दोंमें बोला है वे तो हो गए प्रधान और बाकी जो ६ हैं, जिनको एक इतर शब्दसे ग्रहण किया गया है वे हो गए गौण। तो उनको प्रधान बतानेका क्या कारण है? कहीं इससे उल्टी तरह क्यों नहीं कह दिया? यों भी सूत्र बना सकते थे कि 'एकएकविधाक्षिप्रनिःसृतोउक्ताअध्रुवाणां सेतराणां' याने जिनको गौण किया है उनको प्रधानरूपसे सूत्रमें रखते और शेषको इतर शब्दसे ग्रहण करते, ऐसा न कहकर बहु आदिकोंको ही प्रधानता क्यों दी गई है? और एक बात और भी साथ है कि अगर एक-एकविध आदिक शब्द लिखते तो इसमें उनकी अपेक्षा लाघव भी है। किसीका अर्थविषयक लाघव है। एक तो बहुत एक-एक ही बहु, तो गुरु हो गया, एक लघु बन गया। किसीमें एक घनकृत लाघव है, और जानेनकी भी सुगमता है। बहुतको जानना एक बड़ा काम है, एकको जानना छोटा काम है। तो लाघवकी बात पहले रखते और बाकीको इतर शब्दमें गर्भित करते, ऐसा क्यों नहीं किया? और भी देखो धीरे-धीरे किसीको जानना यह तो एक सरलसा काम है और बहुत शीघ्र जान लेना यह कुछ दुष्कर काम है। तो अक्षिप्र तो सुगम कहलाता और क्षिप्र ज्ञान कुछ दुष्कर रहा तो क्यों नहीं सुगमताका पहले शब्दोंसे कथन करते? सूत्रमें अनिःसृत शब्द दिया है, और निःसृतको इतर शब्दसे कहा है। अब सब जान सकते हैं कि निःसृतका ज्ञान करना तो सुगम है और अनिःसृतका ज्ञान करना दुष्कर है। फिर निःसृतको ही बोलते सूत्रमें कंठोक्त पूरे शब्द से। ऐसे ही उक्त-अनुक्तमें समझियेगा। सूत्रमें अनुक्त शब्द दिया है याने अभिप्रायवश न कहेको समझ लेना, यह तो बड़ा काम हुआ और पूरे कहे कोसमझ लेना, यह तो बहुत सुगम है, फिर सूत्रमें उक्तका शब्द देते, अनुक्तको इतरमें डालते। इसी प्रकार ध्रुवका निश्चय करते, ध्रुवके निर्णय करनेकी अपेक्षा अध्रुवका निर्णय करना सुगम होता है, तो सुगम विधिमें तो अध्रुवको पहले कहना चाहिए, फिर ऐसा प्रयोग

न कर बहु आदिकका पहले प्रयोग किया है, इसका क्या रहस्य है? रहस्य यह है कि यह समझना चाहिए कि सूत्रमें लो कंठोक्त शब्द दिये गये हैं, उनके वाच्य अर्थके परिज्ञानमें ज्ञानावरणका विशेष क्षयोपशम चाहिए और उस विशेष क्षयोपशमसे बहुत आदिक ज्ञानोंकी उत्पत्ति होती है, और फिर जो विशेष समझा उसको फिर उनका विशेषण जैसा बनकर एक-एकविध आदिकका ज्ञान बहुत अच्छी तरह बन जाता है। तो जो बड़े क्षयोपशमसे होने वाले ज्ञानसे पदार्थका निर्णय करता है उसके लिए फिर बहुत ही सुगम है कि वह एक एकविध आदिकका ज्ञान कर ले। आत्मामें अचिन्त्य शक्ति है और वह अपने इस ज्ञानबलका प्रयोग क्यों न ऊँचेसे करे? यही आशय रखकर इस सूत्रमें बहु आदिकका पूरे शब्दोंसे जिक्र किया है और एक एकविध आदिकका इतर शब्दोंमें अन्तर्गत रूपसे परिचय कराया है।

प्रकरणोक्त विषयोंके स्वरूपका पुनः स्मरण प्रकरण सांख्यवहारिक प्रत्यक्षके विवरणका चल रहा है। जो इन्द्रिय और मनके द्वारा हम आप लोगोंको जानकारी होती है वह सब सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है। उसके चार भेद कहे गए अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा याने प्रथम ही किसी वस्तुके दर्शनके बाद जो सामान्यतया द्रव्यपर्यायात्मक वस्तुका बोध होता है उसे अवग्रह ज्ञान कहते हैं। अवग्रह ज्ञानसे जाननेके बाद उस ही वस्तुमें कुछ विशेषका परिचय होना ईहाज्ञान है, फिर उस विषयका अवधारण होना कि यह पदार्थ वही ही है सो अवाय है। फिर इसका इतना दृढ़ परिचय हो जाना कि भविष्यमें भूल न सके इसको धारणा ज्ञान कहते हैं। तो ये चार प्रकारके ज्ञान किस प्रकार पदार्थोंको जानते हैं, इसका विवरण इस सूत्रमें किया गया है।

कोई ज्ञान बहुत पदार्थोंको जानता है, जैसे नगर, बाजार, घर, सभा या अनेक प्रकारकी फैली हुई चीजें, एक ही घरमें रखी पचासों चीजें। इन सबको कोई ज्ञान जान लेता है ना, तो इस ही का नाम है बहुज्ञान याने बहुत पदार्थोंको जान लेवे, ऐसे ज्ञानको बहुज्ञान कहते हैं। एक ही ज्ञानसे जान लिए गए वे सब पदार्थ। कहीं ऐसा नहीं है कि उन बहुत पदार्थोंको क्रम-क्रमसे जाना हो। जैसे एक चटाईको जान लिया और चटाईमें सीकें अनेक हैं तो कहीं ऐसा नहीं हो रहा कि एक-एक सीकको जाना जा रहा हो क्रमसे और इस तरहसे चटाईको जान पाते हों, किन्तु एक ही निगाहमें उन सब पदार्थोंको जान लेते हैं। तो इसका नाम है बहुजन। और चीजें बहुत रखी हैं, अनेक तरहकी रखी हैं उन अनेक चीजोंको जातिकी दृष्टिसे जानना कि ये तो अनेक प्रकारकी चीजें हैं, जैसे गेहूं, चना, मूंग ये बहुतसे अनाज मिल गए, अब मिले हुए अनाजको देख रहे तो बहुत दाने भी जाननेमें आ रहे और यह भी जाननेमें आ रहा कि ये तो बहुत प्रकारके अनाज हैं, तो ऐसे भी ज्ञान हुआ करते हैं जिनमें जातिकी दृष्टिसे जान लिया जाता है कि ये बहुत प्रकारके पदार्थ हैं, इसको कहते हैं बहुविध ज्ञान याने बहुत प्रकारके पदार्थोंको जान लेना, यह कहलाया बहुविध ज्ञान।

कोई ज्ञान क्षिप्र ही जान लेता है। क्षिप्र मायने जल्दी। जल्दीकी जानकारीको कहते हैं क्षिप्रज्ञान। जैसे कई बालक होते हैं, विद्यार्थी पढ़ते हैं, एक विद्यार्थी तो किसी बातको झट समझ लेता है और

कोई विद्यार्थी किसी बातको बहुत देर तक दिमाग लगाने पर समझता है तो जानकारीमें यह अंतर है ना। तो जो झट समझ लेता है उसके ज्ञानका नाम है क्षिप्रज्ञान और जो देरीसे समझता है उसके ज्ञानका नाम है अक्षिप्रज्ञान। तो ऐसा भी तो ज्ञान होता है सांख्यवहारिक प्रत्यक्षमें तो यह कहलाया क्षिप्रज्ञान जो जल्दी समझमें आये। कोई ज्ञान अप्रकट पदार्थको भी जान लेता है। याने पदार्थका कोई हिस्सा देखनेमें आया, अब उस हिस्सेके परिचयके साथ ही पूरे पदार्थका ज्ञान बन जाता है।

जैसे तालाबमें एक हाथी डूबा है, उसकी केवल सूंड बाहर निकली है। उस सूंडको देखते ही 'हाथी है' ऐसा जो ज्ञान बनता है उसका नाम है अनिःसृत ज्ञान। तो अनिःसृतका भी ज्ञान होता है, उसका भी निर्देश इस सूत्रमें किया है।

कोई ज्ञान बिना कहेको ही जान लेता है। कोई पुरुष कुछ कहनेको ही था, दो शब्द ही बोल सका कि उसकी टोन और शब्दकी विधि जानकर तुरंत सब समझ गए कि यह, यह कहना चाहता है। तो इस तरह अनुक्तकी भी तो जानकारी चलती है, इसका नाम है अनुक्त ज्ञान। और कोई ज्ञान ध्रुवको जानता है याने जो पदार्थ स्थायी है, वही है, चलित नहीं है उसे जानता है; जैसे मकान, खम्भा, अलमारी आदि जो चीजें स्थिर हैं उन्हें भी जानता है। तो ऐसे ज्ञानका नाम ध्रुवज्ञान।

सूत्रमें संकेतित इतर शब्दसे गृहीत एक एकविध आदि धर्मोंके स्वरूपका स्मरण जैसे उक्त ६ प्रकारके पदार्थोंकी जानकारी होती है, इसी प्रकार इससे उल्टोंकी भी जानकारी चलती है। अर्थात् जैसे किसीको बहुतका ज्ञान होता है तो किसीको एकका भी ज्ञान होता है। एक पुस्तक, एक केला, एक फल, यों एकका भी ज्ञान चलता। तो सांख्यवहारिक प्रत्यक्षकी विशेषतामें यह बतलाया जा रहा है कि १२ प्रकारके पदार्थोंका जीवोंको सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष होता है। तो ७वाँ प्रकार है यह एकको जानना, एक ज्ञान, और ८वाँ प्रकार यह है कि एक प्रकारके पदार्थकी भी जानकारी होती है। जैसे गेहुवोंका ढेर लगा है तो जान तो गए बहुत, मगर बहुत है, ऐसी दृष्टि नहीं है अभी और यह दृष्टि है कि यह सब एक ही प्रकारकी चीज है। तो एक ही प्रकारकी है यह सब, इस तरहकी जानकारीका नाम है एकविधज्ञान। ६वें प्रकारमें यह बताया है कि कोई ज्ञान देरी-देरीसे जानता है, बहुत देरमें समझमें बात आती है।

जैसे कि बताया गया था कि कोई विद्यार्थी किसी बातको बहुत देरमें समझ पाता। सामने कोई चीज आयी हो तो उसे कोई तो तुरन्त जान लेता है, कोई धीरे-धीरे परख बनाकर जान पाता है। तो जो देरसे जानकारी बनती है उसे कहते हैं अक्षिप्र ज्ञान। १०वाँ प्रकार है निःसृत ज्ञानका याने पूरा प्रकट पदार्थ है, निकला हुआ है, सामने है, स्पष्ट है, उसे जान गए। तो यह कहलाता है निःसृत ज्ञान। ११वाँ प्रकार है उक्त ज्ञानका याने पूरा बोल दिया और उसका मतलब समझ गए। तो पूरे कहे गएको जानना, यह है उक्तज्ञान। और १२वाँ प्रकार है अध्रुवज्ञान का। याने कोई चीज जो स्थिर नहीं हो रही उसकी जानकारी हो गई। जैसे बिजली चमकी, उसकी जानकारी बन गई, तो बिजली स्थिर चीज तो नहीं। तुरन्त ही तेजीसे कोई चीज निकल गई, उसका ज्ञान हुआ तो वह स्थिर तो न रही। थोड़ी

देर ही सामने आयी तो उसका ज्ञान कहलाया अध्रुव ज्ञान। तो इस प्रकार इन १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह होता है, ईहा होती है, अवाय होता है, धारणा होती है, यह इस सूत्रमें कहा जा रहा है।

बहु बहुविध आदिका क्रम रखे जानेका कारण अब इस विषयमें एक जिज्ञासा होती है कि सूत्रमें इन १२ बातों का, शब्दोंका कथन तो किया गया है, मगर ६ शब्द तो सूत्रमें दिये। बहु बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और ध्रुव और इससे उल्टी जो ६ बातें हैं उनका नाम नहीं दिया, और सेतर यह शब्द करके बता दिया। सेतरका अर्थ है स इतर। स मायने सहित, इतर मायने उलटे याने इन ६ के एवजके उल्टे जो हुए वे ६ और ले लें। तो इसका तो समाधान हो गया था कि इन ६ का जो नाम लिया सो क्यों? और उन ६ को इतरमें शामिल कर लिया सो क्यों? तो उत्तर यह आया था कि जिनका नाम लिया गया वह ज्ञान कुछ बड़ा है याने उन ६ प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान बड़ी योग्यता हो तब होता है, इसलिए पहले काम लिया, लेकिन अब यह जानना चाहिए कि जो ६ नाम दिये बहु बहुविध आदिक उनको इस ही क्रमसे क्यों रखा? जैसा चाहे बोल देते, पहले बहुविध बोलते, फिर बहु बोलते, और और तरह बोलते। ऐसा ही क्रम रखनेका क्या कारण है?

अब इस जिज्ञासाका समाधान करते हैं। जो ये ६ शब्द रखे हैं उनके क्रमका यह कारण है कि पहले भेदके ज्ञानमें योग्यता ज्यादा चाहिए और उसके बादके जो दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें, छठवें प्रकारका ज्ञान चलता है उसमें उत्तरोत्तर योग्यता कम भी हो तो भी जानकारी बनती है। जैसे इन ६ को उल्टे नम्बरसे समझिये। छठवाँ ज्ञान है ध्रुवज्ञान। जो स्थिर है, सामने है उसका ज्ञान किया। तो ऐसी जानकारी बड़ी आसानीसे होती है लोगोंको और उसकी अपेक्षा पूर्व भेद वाले ज्ञानमें भाने अनुक्तके ज्ञानमें कुछ ज्यादा योग्यतासे जानकारी बनती, याने कोई पुरुष बातको पूरा न कह सका और आशयको जान लिया गया तो ऐसे अनुक्तका ज्ञान करना, उस ध्रुवज्ञानसे तो बड़ी जानकारीका ज्ञान हुआ ना?

अब देखिये चौथे नम्बरका ज्ञान। उसका नाम है अनिःसृत ज्ञान याने पदार्थ निकला हुआ नहीं है और उसे जान गए तो अनुक्त ज्ञानसे भी थोड़ी ज्यादा योग्यता चाहिए अनिःसृतका ज्ञान करनेके लिए। अब तीसरे प्रकारका ज्ञान देखिये इसका नाम है क्षिप्रज्ञान, याने झट जानकारी कर लेना। तो अनिःसृत ज्ञानसे भी अधिक योग्यता चाहिए क्षिप्रज्ञान में। कोई बालक किसी बातको झट जान लेता है तो इसमें विशेष योग्यता चाहिए और उससे अधिक योग्यता चाहिए बहुविध ज्ञान में। बहुत प्रकारके पदार्थोंकी जानकारी चल रही है, और उससे अधिक प्रशंसनीय और बहुविद्वत्ताकी बात होती है बहुज्ञान में। तो ज्ञानावरणके विशेष क्षयोपशमकी बात है तो ऐसी बड़ी योग्यताका क्रम ज्ञानका निरखकर इन शब्दोंका क्रम रखा है।

ज्ञानकी पूज्यताका अर्थधर्मोंमें आरोप यहाँ कोई कहता है कि ज्ञान ही तो पूज्य है। जो ऊँचा ज्ञान है सो पूज्य है, जो हल्की योग्यताका ज्ञान है सो उससे कम है। तो ज्ञानोंकी बात तो कह लो, पर इन शब्दोंमें तो पूज्यता नहीं, जिनके ज्ञानोंका क्रम बना रहे। जो बड़ी योग्यताका ज्ञान है उसे पहले बोलें, पर शब्दोंमें तो पूज्यता नहीं होती। शब्द तो कैसे ही रख लो।

तो उत्तर यह है कि इन पदार्थोंके विषयका ज्ञान है, ऐसा सम्बंध होनेके कारण इन शब्दोंमें भी पूज्यताका आरोप किया जाता है। जैसे कोई कहे कि भगवान मोक्ष गए, सो भगवान तो पूज्य हैं, क्योंकि वह आत्मा वीतराग है, सर्वज्ञ है, पर जो मूर्ति बनाते हैं भगवानकी वह तो पाषाण है, उसमें पूज्यता क्यों आती है? पूज्यता तो पवित्र आत्मामें है। तो वहाँ भी यही समाधान होता है चूंकि उन पवित्र आत्माकी स्थापनाकी है मूर्तिमें सो इस कल्पनाके नातेसे पाषाणकी मूर्ति भी पूज्य बनती है। तो ऐसे ही इन ६ शब्दों द्वारा उन ६ प्रकारके ज्ञानोंकी बात समझायी जा रही है। इसलिए जैसे ज्ञान पूज्य है तो ये पदार्थ भी पूज्य हैं, इस तरहका आरोप है।

एक ज्ञान द्वारा बहुत पदार्थोंके ज्ञानकी संभवता अब यहाँ एक दार्शनिक शंका करता है कि अभी जो यह कथन किया गया नाना प्रकारसे कि कोई ज्ञान बहुतको जानता है, कोई ज्ञान बहुत प्रकारके पदार्थोंको जानता है, सो यह बात सही नहीं जंचती, क्योंकि एक ज्ञान बहुत पदार्थोंको जान ही नहीं सकता, क्योंकि ज्ञान होता है प्रत्येक पदार्थसे निकला हुआ। तो जिस पदार्थसे ज्ञान निकला वह ज्ञान उस ही एक पदार्थको जानेगा। कोई भी ज्ञान बहुत पदार्थोंको नहीं जान सकता और इसी प्रकारसे जब बहुत पदार्थोंका ज्ञान नहीं जान सकता तो बहुत प्रकारके पदार्थोंको भी नहीं जान सकता, इसलिए यह अवग्रह आदिक १२ प्रकारके पदार्थोंको जानता है, ऐसा कहना युक्त नहीं है।

एक ही ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थोंको जाननेकी संभवतापर शंका व समाधान अब इस शंकाके समाधानमें अधिक कहना यों व्यर्थ है कि जब सामने प्रतीतिसिद्ध तत्त्व प्रसिद्ध हो रहा है कि एक ज्ञान बहुतको जान लेता है, यह घास पड़ी है, पुल पड़ा है, इसमें कितनी सीकें हैं? इसमें उन सब सीकोंको एक साथ ही तो कोई ज्ञान जान रहा, यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है, फिर उसके लिए समझानेकी ज्यादा दिमागपच्ची करना व्यर्थ है। अब यहाँ कोई कहे कि चाहे पुराल भरा पड़ा है तो इनमेंसे एक-एक सीकसे एक-एक ज्ञान निकलकर एक-एकको ही जान रहा है, यह बात तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। एकका भी ज्ञान हुआ करता है एक ज्ञानके द्वारा और एक ज्ञान द्वारा बहुतका भी ज्ञान हुआ करता है।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि वास्तविक बात तो यह है कि जो अनेक चीजें जान रहे हैं, ये अनेक सीकें जानी जा रही हैं सो एक प्रत्यक्ष नहीं हैं। यहाँ जितनी सीकें हैं, जितने पदार्थ हैं उतने ही प्रत्यक्षज्ञान बन गए और इस तरह एक ज्ञान एक ही पदार्थको जान रहा, वे पदार्थ अनेक हैं तो ज्ञान भी अनेक हो रहे हैं। तो लोगोंको यह बोध क्यों हो रहा है कि देखो एक ही बारमें एक ही ज्ञानसे जान लिया, यह तो भ्रम हो रहा है, क्योंकि शीघ्र शीघ्र वे ज्ञान चल रहे हैं, इससे ऐसा लगता है कि ये सब एक साथ जाने जा रहे, एक ज्ञान द्वारा जाने जा रहे हैं। जाने जा रहे हैं अनेक ज्ञानों द्वारा अनेक पदार्थ, पर क्रम हो जाता।

इस शंकाके समाधानमें यह पूछा जाना योग्य है कि शंकाकार यह बताये कि अनेक प्रत्यक्षों द्वारा इन अनेकोंका ज्ञान हो रहा, ऐसा कहने वाले यह बतायें कि उन अनेक प्रत्यक्षोंका उन्हें ज्ञान हो रहा क्या? याने अनेक ज्ञान हैं जो इन अनेकोंको जानते हैं, तो इसमें अनेक ज्ञान हैं यह ज्ञान कैसे हुआ?

अगर कहो कि उन अनेक ज्ञानोंको जाननेके लिए अनेक ज्ञान और पैदा हो जायेंगे तो उनके लिए और चाहिए, यों अनवस्था दोष आता है। यह पूछा जा रहा है कि शंकाकार जो यह कहता है कि ये अनेक सीकें रखी हैं, इनका जो ज्ञान हो रहा है सो जितनी सीकें हैं उतने ज्ञान हो रहे। याने अनेक ज्ञानोंसे बहुत पदार्थ जाने जा रहे हैं तो यह पूछा जा रहा है कि उन अनेक ज्ञानोंका ज्ञान कैसे हो रहा? अनेक ज्ञानोंसे तो होगा नहीं, उसके दोष तो बता दिये। अगर वे यह कहें कि अनेक सीकोंको जाननेके लिए अनेक ज्ञानोंकी आवश्यकता हुई, सो उन ज्ञानोंको एक ज्ञानने जान लिया तो वह बड़े गजबकी बात है, उन अनेक ज्ञानोंको जाननेके लिए एक ज्ञान ही काफी रहा। और यहाँ अनेक पदार्थोंको जाननेके लिए एक ज्ञान मानते नहीं। सो सीधा ही समझना चाहिए कि ऐसे भी ज्ञानकी विशेषता होती है, एक ज्ञान अनेक पदार्थोंको जान लेता है।

ज्ञेय अर्थोंकी बहुत होनेसे ज्ञानकी एकता न माननेपर दोषापत्तियां अब वही शंकाकार फिर कह रहा है कि जो यह पूछा गया था कि अनेक पदार्थोंको जानने वाले अनेक ज्ञान कैसे जाने जाते हैं तो इसका उत्तर यह है कि वह सब स्वयं जान लिए जाते हैं। अनेक सीकें पड़ी हैं, उन्हें अनेक ज्ञानोंने जाना। उन अनेक ज्ञानोंका ज्ञान खुद हो जाया करता है। तो क्षणिकवादी शंकाकारका यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षणिकवादियोंका तो यह सिद्धान्त है ना कि क्षण-क्षणमें नया-नया आत्मा बनता है, क्षण-क्षणमें नया-नया ज्ञान बनता है। तो इस सिद्धान्तके अनुसार जो इन अनेक सीकोंका अनेक ज्ञान बताया जाता, इसके मायने यह हुए कि अनेक आत्माओंका वह ज्ञान है, तो अब अनेक आत्माओं द्वारा इन अनेक सीकोंका ज्ञान हुआ तो उन अनेक ज्ञानोंमें एकपनेका अनुसंधान नहीं बन सकता याने जैसे यह अनुसंधान चलता है सबका अपनी-अपनी बातका कि जिस मुझने अभी छुवा था वही मैं अब सूँघ रहा हूँ, उस ही का मैं विचार कर रहा हूँ, तो एक आत्मामें तो उन अनेक ज्ञानोंका अनुसंधान बनता, एकपना बनता, धारा बनती, पर अनेक आत्मा अनेक ज्ञान कर ले, उन सब ज्ञानोंमें एक ज्ञानपनेका अनुसंधान नहीं बन सकता, इसलिए यह बात भी नहीं बनती कि उन अनेक ज्ञानोंकी स्वतः उत्पत्ति हो जाये। तब सीधा यही मानना चाहिए कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो बहुत पदार्थोंका ज्ञान कर लेता है।

अब क्षणिकवादी शंकाकार ही कह रहे हैं कि अभी-अभी जो यह दोष दिया कि अनेक पदार्थोंके अनेक ज्ञानोंमें अनुसंधान न बन सकेगा कि जो ही अभी जाना था, मैंने जाना था वही मैं अब इसे जान रहा हूँ, क्योंकि ऐसे अनुसंधान बिना एक ज्ञान न बन पायेगा, सो यह अनुसंधान बनता है। कैसे? इन अनेक सीकोंका जो अनेक ज्ञान हुआ, उसके बाद जो विकल्पज्ञान जगता है उस विकल्प ज्ञानसे अनुसंधान बन जायेगा। यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि क्षणिकवादियोंके सिद्धान्तमें जिस ज्ञानके बाद विकल्पज्ञान बना वह विकल्पज्ञान उस ही एक पदार्थमें अनुसंधान करता, मायने एकपना लाता। तो विकल्पज्ञानसे भी उन अनेक ज्ञानोंमें एक ज्ञानकी बात नहीं बनती। इससे भाई जिस तरह एक विकल्पज्ञानसे बहुत ज्ञानोंका जानना मान रहे हो तो सीधा ही मान लो ना कि एक ही ज्ञान कोई

ऐसा होता है कि जो बहुत पदार्थोंको और बहुत प्रकारके पदार्थोंको जान लेता है। भारी तोड़-मरोड़का परिचय करनेसे लाभ क्या है?

संख्या व संख्यावानका भेद बताकर बहुज्ञानकी इन्कारीका रास्ता ढूँढनेका व्यर्थ प्रयास अब कोई दूसरा दार्शनिक कहता है कि किसी भी बहुत पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, किन्तु बहुत संख्याका ज्ञान होता है, याने जैसे १२ केले रखे हैं तो १२ केलोंका ज्ञान नहीं हो रहा, किन्तु केलेकी १२ संख्याका ज्ञान हो रहा। समाधानमें इतना कहना ही पर्याप्त है कि वाह रे गजबकी बात, कैसा बुद्धिसे तोड़ा गया कि १२ केलोंका ज्ञान नहीं, किन्तु केलोंकी १२ संख्याका ज्ञान है। अरे छोटे बच्चेसे लेकर बड़े-बूढ़े तक वे १२ जो रखे हुए केले हैं उनका ज्ञान हो रहा कि नहीं? उनकी जो १२ संख्या है तो क्या वह संख्या अलग धरी है पिटारे में? संख्यासे संख्यावानकी भिन्न नहीं होती। वे केले १२ हैं और उनमें उनकी संख्या बतायी जा रही है। संख्यासे संख्या वाली चीज कोई न्यारी नहीं हुआ करती कि यह कहना कि वाह १२ केलों का तो ज्ञान नहीं है, किन्तु केलेकी १२ संख्याका ज्ञान है यह सब व्यर्थकी कल्पना है। जिस किसी भी पदार्थको देखते तो सारे पदार्थ जाननेमें आ गए। सबको स्पष्ट है कि बहुत पदार्थोंका ज्ञान हो रहा। अगर इस तरह बहुत पदार्थोंका ज्ञान न माना जाये तो फिर नगर का, वनका ज्ञान ही न हो सकेगा, क्योंकि नगर एक चीज तो नहीं, बहुत चीजोंका समुदाय है। वन एक चीज नहीं, बहुतसी चीजोंका समुदाय है। इस कारण यह मानना चाहिए कि कोई ज्ञान ऐसा होता है जो बहुत पदार्थोंकी जानकारी कर लेता है।

यदि शंकाकार दार्शनिक ऐसा मान लें कि जैसे सर्वज्ञ योगीका ज्ञान बहुत प्रकारके पदार्थोंको जानने वाला है, जैसे कि सहस्र किरण वाला सूर्य एक ही साथ अनेक पदार्थोंका प्रतिभास कर देने वाला है, ऐसा यदि मानें तो यह तो उचित ही है। सभीका ज्ञान ऐसा ही है, अन्तर आवरणका है। जिसके जितना आवरणका क्षयोपशम हो वह उतनी अवधिमें पदार्थोंको एक साथ जान लेता है।

पूर्व ज्ञानोंकी स्मृतिकी सहायतासे उत्तर उत्तर ज्ञानोंसे जानकर बहुज्ञान सिद्ध करनेका निष्फल प्रयास यदि शंकाकार दार्शनिक यह कहे कि सर्वज्ञके ज्ञानकी बात दूसरी है। यहाँ हम लोगोंको जो प्रत्यक्ष हो रहा है और अनेक पदार्थोंका ज्ञान हो रहा है सो होता तो है प्रत्येक पदार्थका एक ज्ञान लेकिन पूर्व ज्ञानके स्मरणकी मदद लेकर दूसरा ज्ञान चलता है और इस तरह मदद ले लेकर उत्तरोत्तर ज्ञान चलता है और तब यह परिचय बनता है कि बहुत पदार्थोंको जान लिया। जैसे कि वाक्यज्ञानमें भी ऐसा ही होता है जैसे एक वाक्य, एक पंक्तिमें लिखा है या एक पद ५-७ अक्षरोंका है तो वे अक्षर जाने तो जा रहे हैं क्रमसे और उस शब्दका भाव क्या है यह समझा जाता तब जब आखिरी अक्षर पढ़ लिया जाता है। तो वहाँ वह भाव केवल आखिरी शब्दमें तो नहीं बसा और न किसी एक-एक अक्षरमें बसा, किन्तु पूर्व अक्षर पढ़े, उसे स्मरणमें रखे, फिर दूसरे अक्षर पढ़े, उन्हें भी स्मरणमें रखे, फिर तीसरे पढ़े, इस तरह मानो ७ अक्षरका पद हो तो इस तरह उसका भाव आता है। तो अर्थ यह ही हुआ ना कि इस तरह बहुतसे पदार्थोंका जो ज्ञान होता है सो होता तो है प्रत्येक पदार्थका

अलग-अलग ज्ञान, पर वह उत्तरोत्तर ज्ञान पूर्व पूर्व ज्ञानका स्मरण पाकर बढ़ जाता है और उन बहुत पदार्थोंमें जो आखिरी पदार्थका ज्ञान है उसके होते ही यह स्पष्ट होता है कि मैंने बहुतको जान लिया, ऐसा दार्शनिकोंका कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष विदित हो रहा है कि बहुत पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह स्मरणकी मदद लेकर नहीं होता, किन्तु सीधा ही बहुत पदार्थ हैं तो उनका ज्ञान हो जाता है। तो जो लोग ऐसा मानते हैं कि स्मृतिकी मदद लेकर इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है बहुतका ज्ञान, तो वे यह बतायें कि बहुत और बहुविध आदिक पदार्थोंमें जो अवग्रहज्ञान होता है, होता तो है इन्द्रियसे, मगर क्या वह स्मरण सापेक्ष इन्द्रियसे जाना जाता है या स्मरण निरपेक्ष इन्द्रियसे जाना जाता है?

यदि शंकाकार यह कहे कि स्मरण निरपेक्ष इन्द्रियसे जाना जाता तब तो सही ही बात कह रहे और जब स्मृतिकी बात नहीं लेते इन्द्रियसे पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। तो यह क्षयोपशमविशेषकी ही तो बात है कि बहुत पदार्थोंका अवग्रहादिक हो जाता है। यदि दार्शनिक यह कहें कि नहीं, स्मरण सापेक्ष होकर ही इन्द्रियाँ बहुत आदिक पदार्थोंको जानती हैं याने एक पदार्थको जाना, उसका स्मरण रख लिया, इस तरह याद कर करके पदार्थोंको जानता है और जहाँ सब जान लिया गया तब ऐसा लगता है कि मैंने बहुत पदार्थोंको एक साथ जान लिया। तो इस तरह अगर स्मरण सापेक्ष होकर इन्द्रिय जानती हैं, यह बात कहेंगे तो यह बिल्कुल असंगत है, प्रतीतिसे विरुद्ध है और यह भी समझें कि कोई पुरुष यदि नये पदार्थोंको जानता है जिन पदार्थोंको कभी जाना ही न था, ऐसे बहुत पदार्थोंको जानता है तो वहाँ तो स्मरणकी गुंजाइश भी नहीं। स्मरण तो तब ही होता है कि जब पदार्थोंको पहले जान लिया हो, बादमें देखे तो स्मरण हो। या बिना देखे भी स्मरण हो, पर जो पदार्थ नवीन हैं उनको देखकर ही एकदम बहुतका ज्ञान हो जाता है, इसलिए अवग्रहादिक ज्ञानस्मृति सापेक्ष इन्द्रियसे नहीं उत्पन्न होते, किन्तु स्मृति निरपेक्ष ही सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष बनता है। इस कारण यह मान लेना चाहिए कि बहुत, बहु प्रकारके अनेकोंका ज्ञान एक ही ज्ञानके द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

बहु बहुविध आदि पदार्थोंके स्मरण प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणोंकी संभवता जैसे बहुत-बहुत आदिक पदार्थोंके विषयमें इन्द्रियज ज्ञान होता है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा नामके ज्ञान होते हैं, इसी प्रकार १२ प्रकारके अर्थोंमें ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक ज्ञान भी हुआ करते हैं, क्योंकि इन १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार ज्ञान होते हैं। यहाँ तक तो शंकाकारको मानना ही पड़ा। अब धारणाज्ञान द्वारा जब उन पदार्थोंका दृढ़तम अवधारण हो गया तो फिर उन्हीं अर्थोंमें स्मरण आदिक ज्ञान भी होते हैं, यह अनुभव सिद्ध है, प्रतीति सिद्ध है। इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है। अन्यथा अर्थात् यदि इन १२ प्रकारका पदार्थोंका स्मरणज्ञान न माना जाये तो सारी लोकप्रवृत्ति नष्ट हो जायेगी, क्योंकि जितना भी लोकका व्यवहार है, सम्बन्ध है, प्रवर्तन है, वह स्मृतिके आधार पर चल रहा है। और ऐसे ही १२ प्रकारके पदार्थोंकी स्मृतियाँ चल रही हैं तो उस पर होने वाला जो व्यवहार है वह व्यवहार खत्म हो जायेगा। होता ही नहीं, इस कारण यह मानना

चाहिए कि १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा तो होता है, पर इनके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदिक भी होते हैं। यहाँ तक यह बात सिद्ध हुई कि मतिविशेषके चार प्रकार हैं अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। ये १२ प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान करते हैं।

पदार्थोंके उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे उनके सब प्रकारोंकी ज्ञेयता प्रकरण मतिविशेषका है इसलिए उसकी ही बात गायी जा रही है। उस प्रसंगमें क्षणिकवादी शंकाकार कहता है कि इन १२ प्रकारके पदार्थोंमें से कुछ ऐसे भी नाम हैं कि जिनका ज्ञान असम्भव है। जैसे क्षिप्रज्ञान कहा सो यह तो ठीक है, पदार्थ क्षणिक हैं, एक ही समय ठहरते हैं और तुरन्त ही ज्ञान न हो तो फिर कभी ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि जब पदार्थ ही न रहा तो ज्ञान कहाँसे होगा? इसलिए क्षिप्रज्ञान, तुरन्त ज्ञान यह तो सम्भव है, परन्तु अक्षिप्र अवग्रह याने देरीसे जानना यह सम्भव नहीं, क्योंकि जाननेमें देर लगाओगे तब तक पदार्थ निपट ही चुका, क्योंकि सर्व पदार्थ क्षणिक ही होते हैं, फिर कुछ भी ज्ञान करोगे वह सब मिथ्या है। जितने भी पदार्थ हैं सभी पदार्थ हैं, सभी पदार्थ एक क्षण ही ठहरा करते हैं, इसलिए पदार्थका क्षिप्रज्ञान तो होता है। जब एक क्षणसे अधिक काल तक कोई पदार्थ नहीं स्थिर रहता तो अक्षिप्रज्ञान कैसे सम्भव है?

इस शंकाके समाधानमें विचार करें कि क्या पदार्थ सब क्षणिक ही हैं? अनुभव तो कहता है कि पदार्थ क्षणिक नहीं, किन्तु उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यसे सहित हैं, याने पदार्थ प्रतिक्षण नवीन पर्यायसे उत्पन्न होते हैं, पूर्व पर्यायसे विलीन होते हैं और द्रव्यस्वभावसे स्थिर रहा करते हैं। तो पदार्थ क्षणिक ही हों यह तो है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन धर्मोंसे सहित हैं। अणु-अणु जो भी सत् है वह सब उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है तो उसमें यह भी बात आयी ना कि पदार्थ कालान्तर तक ठहरता हुआ ध्रुवरूप है। हाँ सूक्ष्म ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एक-एक पर्याय भले ही एक-एक समय तक ही रहती जानी जाती है, किन्तु व्यवहारनयसे प्रमाण द्वारा यह जाना जा रहा है कि वस्तु अधिक काल तक ठहरती है। वस्तु तो एक ही है, पर्याय तो उसके एक क्षणका अंश है, पर वस्तु तो सदा रहने वाला है। तो इस तरह जब वस्तु बहुत काल तक ठहरती है तो उसका ज्ञान होना युक्त ही है।

अब दूसरा शंकाकार कहता है कि हाँ ठीक कहा जा रहा है कि वस्तु सदा काल रहती है और वह ध्रुव है, अपरिणामी है, कूटस्थ है, इस कारणसे अक्षिप्र, अवग्रह तो सही हैं, किन्तु क्षिप्र, अवग्रह ठीक नहीं हैं, याने पदार्थको कई समयोंमें जान पाना यह बात ठीक बैठती है। ऐसा कहने वाले दार्शनिक भी संगत मंतव्य नहीं रखते, कारण कि पदार्थ जैसा एकान्ततः क्षणिक नहीं है, इसी प्रकार पदार्थ एकान्ततः कूटस्थ भी नहीं है। जो पदार्थ कालान्तर तक एकसे दिखते रहते हैं उनमें भी जैसे सूर्य, चन्द्र, वज्र, हीरा जैसे कठोर पदार्थोंमें भी प्रतिक्षण अपूर्व-अपूर्व अवस्थायें बनती रहती हैं। परमाणुओंका खिरना, अन्य परमाणुओंका आना और तत्कृत जो अवस्थायें हैं वे बनती रहती हैं। इससे पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हैं, अतएव ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार क्षिप्र अवग्रह ज्ञान भी होते हैं और अक्षिप्र अवग्रह ज्ञान भी होते हैं तो बहु बहुविधादिक अनेक प्रकारके पदार्थोंका ज्ञान

होना विरुद्ध नहीं है। चूंकि पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, अतएव शीघ्र अवग्रह हो जाना, शीघ्र ईहा, अवाय आदिक हो जाना जैसे सम्भव है उसी तरह अक्षिप्र अवग्रह हो जाना, अक्षिप्र, ईहा आदिक हो जाना भी सम्भव है।

अप्राप्यकारी चक्षु और मनसे अनिःसृत ज्ञान व अनुक्तज्ञान होनेकी असंभवताका शंकाकार द्वारा उद्घाटन अब इस प्रसंगमें कोई शंकाकार दार्शनिक कहता है कि देखिये जो प्रत्यक्षज्ञान होता है वह इन्द्रिय और पदार्थोंका संयोग पाकर होता है। किसी भी प्रकारका सम्बन्ध बने, सम्बन्ध करके होता है। उसमें से दो साधन ऐसे हैं चक्षु और मनके, जिनके द्वारा पदार्थोंका संयोग न हो तो भी ज्ञान हो जाता है। जैसे छूना तब ही बनता है जब पदार्थका सम्बन्ध बने। यह पदार्थ ठंडा है या गर्म है यह ज्ञान तब होता है जब पदार्थको छुवे। खट्टा-मीठा रसका अवग्रह आदिक तब होता है जब उन रसों का, रसवान पदार्थोंका रसनासे सम्बन्ध बने। सूंघना भी ऐसे ही बनता है। चाहे नाक सुगंधित पदार्थोंके पास जाये, चाहे सुगंधित पदार्थके सूक्ष्म स्कंध नाकके पास आयें, जब सम्बन्ध होता है तब ज्ञान होता है। कर्णेन्द्रियसे भी ऐसा ही है कि जब शब्द कर्णसे सम्बन्धित हों तब ज्ञान होता है, मगर चक्षुमें तो यह बात नहीं है कि एक पदार्थके पास जाये, भिड़े तब ज्ञान हो, और मनकी भी यह बात नहीं कि मन उस पदार्थके साथ भिड़े, तब ज्ञान हो। तो जब साधनकी यह विशेषता है तो अनिःसृत और अनुक्त पदार्थका याने जो पदार्थ पूरा निकला नहीं, जैसे जलमें डूबा हुआ हाथी है और जो बात पूरी कही नहीं गई ऐसे पदार्थोंका ज्ञान चारइन्द्रियसे कैसे हो सकता? याने स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण जो इन्द्रियाँ पदार्थोंको छूकर जानती हैं उन इन्द्रियोंके द्वारा अनिःसृत और अनुक्त पदार्थ कैसे जाना जायेगा क्योंकि जो निकला नहीं उसको इन्द्रियाँ छू नहीं सकतीं। जो कहा नहीं गया उसका कर्णसे सम्बन्ध कैसे हो सकता? तो चार इन्द्रियका सम्बन्ध अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके साथ ही नहीं हो सकता, इस कारण जो भिड़कर जानने वाली चार इन्द्रियाँ हैं उनके द्वारा अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका ज्ञान अवग्रह आदि मान लिया जाये तो यह भी अप्राप्यकारी हो जायेगा, याने जैसे आंख और मन पदार्थसे भिड़े बिना जान लेते हैं उसी तरह स्पर्शन आदिक भी पदार्थसे भिड़े बिना जान लेवें, फिर तो जैसे मिठाई खाना है, बस बाजारमें खड़ा हो जाये और मिठाईका स्वाद लेता रहे, क्योंकि अब तो बिना भिड़े ही स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्णसे तुमने विषयको जानना मान लिया। भले ही पेट न भरे, पर आनन्द तो उसे आ जायेगा, पर ऐसा होता नहीं। चार इन्द्रियाँ स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण ये तो पदार्थोंसे भिड़कर ही जानते हैं और चक्षु एवं मन ये भिड़कर नहीं जानते। तब ही तो यह व्यवस्था रखी कि चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह नहीं होता, क्योंकि उनसे स्पष्ट ज्ञान ही बनता है।

योग्य देशावस्थिति प्राप्तिरूप संबंधके कारण सर्व पदार्थोंके ज्ञानोंकी व्यवस्था बताते हुए समाधान शंकाकारका ऐसा कहना संगत नहीं है। कारण कि यहाँ इन्द्रिय और पदार्थका सम्बन्ध प्राप्तिरूप है, भिड़ने और न भिड़नेसे मतलब नहीं है। सो अनिःसृत पदार्थ और अनुक्त पदार्थकी भी

उनके सूक्ष्म अंशोंको कई जगहसे प्राप्ति रूप सम्बन्ध बन जाता है। जैसे जलमें हाथी डूबा है और दिख रही केवल सूंड और उसी समय डूबे हुए उस ही हाथीके सब अवयवोंका जाननरूप, प्राप्ति रूप सम्बन्ध बन रहा है और भी बातें देखी जाती हैं, चार हाथ दूर आग रखी है और हम स्पर्शन इन्द्रियसे उसकी गर्मी समझ लेते हैं तो सूक्ष्म अंशोंसे उस फैली हुई अग्निको छू लेते हैं। अग्निका पिण्ड नहीं फैला, पर अग्निका निमित्त पाकर पासके स्कंध गर्म हो गए, जो दिख नहीं सकते, सूक्ष्म हैं। कोई अंशोंमें गर्मी है तो वे उष्ण स्कंध भी तो अग्निस्वरूप ही माने गए हैं। और भी देख सकते हैं दूर पर कोई खटाई कूट रही है तो उसके खट्टेपनका ज्ञान भी तो हो जाता है। कोई सूक्ष्म अंशोंसे रसना द्वारा संसर्ग बन गया, कोई सुगंधित पदार्थ रखा है, इत्रादिक दूर रखा है, पर इसके उस सम्बन्धसे छोटे-छोटे अंशकी वहाँकी सुगंध रूप परिणाम जाते हैं और नासिका द्वारा उन अंशोंकी प्राप्ति बन जाती है तो लो अनिःसृत पदार्थोंकी गंधको भी सूंघ लिया। किसीको पता ही नहीं कि इत्र धरा कहाँ और सुगंध ले ली जाती है। बहुत दूर पौद्गलिक शब्द हो रहे, पर पासके अनेक छोटे-छोटे अवयवोंसे फैल-फैलकर कान तक आ जाते हैं और सुनाई देने लगते हैं। तो चार इन्द्रियाँ जब प्राप्यकारीपनकी रक्षा भी कर रहीं और उनके द्वारा अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका अवग्रहादिक ज्ञान भी हो रहा तो सम्पूर्ण पदार्थोंकी ऐसी ही कला है कि उनकी पारिणामिक लहरें चारों ओर फैलती हैं अर्थात् उनका निमित्त पाकर पासका स्कंध समुदाय इसके अनुरूप परिणाम जाता है।

जैसे चमकदार पदार्थोंके निमित्तसे निकट निकटवर्ती पदार्थ चमक जाते हैं, दुर्गन्धित वायु होनेसे पदार्थ दुर्गन्धित हो जाते हैं। और की तो बात ही क्या, कहीं-कहीं तो छोटे-छोटे बच्चोंका खेल या नाटक या कुछ गोष्ठी हो रही हो और उस बीचमें कोई गम्भीर विद्वान भी बैठा हो तो भी उसमें कुछ बचपन जैसा प्रवर्तन बन जाता है। अथवा विद्वान बैठा हो तो छोटे-छोटे बालकोंमें भी कुछ गम्भीरता आ ही जाती है। तो ऐसे ही ये पदार्थ जो चार इन्द्रियके विषयभूत हैं वे पदार्थ भी किसी न किसी रूपमें इन्द्रियसे सम्बंधित होकर ज्ञात हो जाते हैं, इसमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है। तब वह समझना कि बहु आदिक १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये चार प्रकारके सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष होते हैं। अनिःसृत और अनुक्तमें जो शंका उठायी गई थी कि इनका ज्ञान प्राप्यकारी चार इन्द्रियाँ कैसे कर लेंगी? सो यह बात है कि किन्हीं भी अंशोंसे इनका सम्बन्ध होता है। पूर्ण भावनासे न हो फिर भी किन्हीं-किन्हीं अंशोंसे सम्बन्ध होता है और अवग्रह ज्ञान आदिक बन जाते हैं और इस दृष्टिसे चक्षुमें और अन्य इन्द्रियोंमें अन्तर है। चक्षुका तो सभी प्रकारसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं बनता है, किन्तु अभिमुख हो तो वे सम्बन्ध अर्थको जान लेती हैं। इस दृष्टिसे चक्षुको अप्राप्यकारी कहा। वहाँ अन्य इन्द्रियोंके अर्थकी भाँति सूक्ष्म अंशोंसे नेत्रमें भिड़ जायें, ऐसा सम्बन्ध नहीं, बल्कि भिड़ जायें तो देखनेमें बाधा ही आएगी। तो जो इन्द्रिय जिस विधिसे ज्ञान करनेका कारण बनती है उस विधिसे कारण है। होता सबका ज्ञान है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त, अध्रुव और इनसे उल्टा एक एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और

ध्रुव इन १२ प्रकारके पदार्थोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार प्रकारके सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष होते हैं।

योग्यदेशावस्थितिक प्राप्तिरूप सम्बंधसे इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होनेके तथ्यका पुनः स्मरण प्रकरण यह चल रहा है कि अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंका अवग्रहादिक कैसे हो जाता है? तो उत्तर यह दिया गया था कि अनिःसृत और अनुक्त पदार्थोंके विषयमें भी किसी न किसी अवयव रूपसे इन्द्रिय मनका प्राप्तिरूप सम्बन्ध बन जाता है। यहाँ प्राप्तिका अर्थ है योग्य देशमें पदार्थका स्थित रहना, भिड़ना मिलना यह अर्थ नहीं है। सो जो पदार्थ अनिःसृत है, पूरा प्रकट नहीं है उसका कोई ही अवयव निकला है तो इतनेका ही प्राप्तिरूप सम्बंध बन जाने पर अवयवीका जो ज्ञान कर लिया जाता है वह अनिःसृतावग्रह है। इसी प्रकार किसीने कोई बात कह न पायी पूरी, थोड़ी ही कहीं, मगर उसका चेहरा मुद्रा आंखसे देखकर पहिचान ली जाती कि इसका अभिप्राय यह है। तो कुछ अवयवोंका सम्बंध बना उससे जान लिया गया। तो इस तरह अनिःसृत और अनुक्तका भी अवग्रह होना सम्भव है।

ज्ञानकी योग्यता व ज्ञेयकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकतासे विविध ज्ञानोंकी सिद्धि सूत्रमें यह बताया है कि बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुक्त और अध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त ध्रुव इन १२ प्रकारके पदार्थोंका याने इन १२ धर्मोंसे युक्त वस्तुका ज्ञान होता है। सो यह बात भली-भांति प्रतीतिसिद्ध है। जो लोग ऐसी शंका रखते थे कि पदार्थ क्षणिक है, इसलिए ध्रुवका अवग्रह न होगा। कोई कहते थे कि पदार्थ नित्य है, सदा अपरिणामी है, इस कारण ध्रुवका अवग्रह न होगा, यह उनकी मान्यता गलत है, क्योंकि पदार्थ नित्यानित्यात्मक है। नित्यानित्यात्मक है पदार्थ, ऐसा सुनकर कोई शंका करने लगे तब तो विरोध हो ही गया, उसीको नित्य कहा, उसीको अनित्य कहा। सो यह भी सोचना सही नहीं है, क्योंकि जिस दृष्टिसे नित्य कहा उसी दृष्टिसे अनित्य कहा जाये तब तो विरोध है, पर नित्यकी दृष्टि दूसरी है, अनित्यकी दृष्टि दूसरी है, ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्मोंका एक पदार्थमें अवस्थान देखा जाता है। पदार्थ नित्य है द्रव्यदृष्टि में। चूंकि सत्त्व सदा रहेगा, इस कारणसे नित्य है और अनित्य है पर्यायदृष्टि से।

जो अवस्था जिस क्षण है वह अवस्था अगले क्षण नहीं होती, ऐसा प्राकृतिक नियम है। भले ही चाहे कई पदार्थ एकसा ही काम कर रहे हैं, पर जो पहले समयमें काम है दूसरे समयमें नहीं। दूसरे समयमें अन्य है। यदि पहला ही काम आगे हो रहा, ऐसा माना जाये तो इसके मायने हैं कि हो ही नहीं रहा। जो काम था वही रहा और रहा भी क्या? तो वस्तु फिर अवस्थाशून्य हो जायेगी, अपरिणामी हो जायेगी। एक ज्ञानके द्वारा भगवान प्रतिक्षण तीन लोक तीन कालको जानते रहते हैं। पहले सब कुछ जान लिया, कुछ दूसरे समयका वही सब कुछ जाना जा रहा। असत् तो जाना नहीं जाता। सत् सब थे, सब जाने गए। दूसरे समयमें भी सत् सब जाने गए। लेकिन पहले समयकी शक्ति से, परिणतिसे पहले समयमें जाना, दूसरे समयकी परिणतिसे दूसरे समयमें जाना, इस कारण

अवस्था प्रतिक्षण नवीन-नवीन प्रत्येक पदार्थमें होती है, और इस दृष्टिसे पदार्थ अनित्य है। तो यहाँ कोई भी न कहे कि जैसे ध्रुवका अवग्रह कैसे मेरु पर्वत आदिक ये ध्रुव हैं और उनका ज्ञान होता है तो वह तो ध्रुव ही है, अध्रुव तो न रहे, और जो अध्रुव चीज है, जैसे बिजली तड़की वह अध्रुव ही तो रही, ध्रुव तो न रही, तो नित्यानित्यात्मक तो कोई पदार्थ हो नहीं सकता।

समाधान इसका यह है कि जो सुमेरुपर्वत ध्रुव है, सत् है उसमें भी प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। कितने ही परमाणु नये आते हैं कितने ही परमाणु उससे अलग हो जाते हैं और उसकी परिणति विविध यों होती रहती है, तो स्थूल दृष्टिसे ध्रुव है, पर प्रमाणदृष्टिसे तो वह नित्यानित्यात्मक है। इसी तरह जो बिजली चमकी और चमक मिट गई तो बिजली क्या थी? कोई पुद्गल परमाणु थे सो चमक रूपमें आ गए थे, दो चमक न रही तो क्या वे पुद्गल परमाणु मिट गए? अब वे पुद्गल परमाणु चमक रूपमें नहीं हैं, अन्य रूपमें हैं। तो पदार्थ तो नित्यानित्यात्मक रहा, वे परमाणु तो सदा रहेंगे। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ नित्यानित्यात्मक है, स्थूल दृष्टिसे तो समझमें आ रहा उसकी अपेक्षा ध्रुव और अध्रुव कहा जाता है। ध्रुवका ज्ञान करना, अवग्रह करना, ध्रुवावग्रह है। अध्रुवका अवग्रह करना, ज्ञान करना अध्रुवावग्रह है।

इस तरह इस सूत्रमें यह बताया गया कि जो मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अनुमान ये मतिविशेषके प्रकार हैं, सो ये इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होते हैं तथा इनमें मतिविशेषके हैं अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा भेद, तो ये चार भेद तथा अन्य मतिज्ञान ये सब बहु बहुविध आदिक १२ प्रकारके पदार्थोंमें होते हैं याने उन पदार्थोंका ज्ञान होता है। अब दार्शनिक जिस प्रकार मानते हैं इस प्रकारसे यहाँ एक जिज्ञासा होती है कि इन १२ प्रकारके धर्मोंका ही ज्ञान होता है या यह धर्म जिसमें है उस पदार्थका ज्ञान होता है, इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए सूत्र कहते हैं

अर्थस्थ ॥ १७ ॥

सामान्यविशेषात्मक पदार्थका कतिपय धर्मोंके रूपमें अवग्रहादिका अभ्युदय सूत्रका अर्थ है पदार्थका। अनुवृत्तिसे अर्थ कर लिया जायेगा कि पदार्थके बहु बहुविध आदिक धर्मोंका अवग्रह आदिक होता है। एक जिज्ञासा हुई थी कि जो पूर्व सूत्रमें बहु आदिक ६ धर्म कहे और उनका उल्टा धर्म कहा एक, एकविध आदिक, सो ये १२ प्रकारके धर्म किस धर्मोंके होते हैं, जिन धर्मोंका ज्ञान करना बताया है वे बहु बहुविध आदिक किस धर्मोंके हैं, इसका उत्तर देनेके लिए यह सूत्र कहा है कि ये १२ प्रकारके धर्म पदार्थमें होते हैं याने जाना तो जाता है पदार्थ ही, पर उस पदार्थको किस रूपसे जाना जाता है, यह ज्ञानोंकी अलग-अलग बात है, पर जाननेमें पदार्थ ही आता। जैसे आंखसे रूप देखा तो क्या आंखने खाली रूपको जान लिया? खाली रूप कुछ है ही नहीं, जाना ही नहीं जा सकता, किन्तु जाना गया पदार्थ, और वह केवल रूपमुखेन जाना गया। केवल रूपको कोई नहीं जान सकता याने पदार्थ तो जाना न जाये और खाली रूपको जाना जाये, ऐसा सम्भव ही नहीं, क्योंकि

पदार्थ तो हो नहीं और कहीं रूप-रूप ही धरा हो, ऐसा कहीं होता ही नहीं है। तो जाना तो जाता है पदार्थ ही, पर पदार्थ रूपमुखेन जाननेमें आया, घ्राणके द्वारा गंधमुखेन जाननेमें आता, ऐसा भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न रूपमें जाना जाता है, और जाना जाता है पदार्थ ही। जैसे कोई आत्माका ज्ञान करे तो अनेक प्रकारसे करता है। आत्मामें दर्शन गुण है, चारित्र गुण है, आनन्द गुण है आदिक या आत्मामें क्रोध है, मान है, जिस किसी भी तरहसे आत्माके बारेमें जाना तो क्या कोई खाली क्रोध जान सकता है? अरे क्रोधसहित आत्माको जाना जा रहा। क्या कोई खाली आनन्द नामके धर्मको जान सकता है? नहीं। आनन्दरूपमय आत्माको जाना जा रहा है। आत्माको ही आनन्द रूपमें जाना, ज्ञानरूपमें जाना, अन्य अवस्था रूपमें जाना, जाना पदार्थ ही। चाहे जैसे कोई मीठा रस खाना चाहता है तो उससे कहो कि पदार्थको तो छूना नहीं, मुखमें रखना नहीं और खाली मीठा तुम चख लो, तो मीठा अलगसे कहाँ चखा जायेगा? मीठा कुछ अलग है ही नहीं, मीठा रस असत्। पदार्थ ही जाना गया है स्वाद में, केवल मीठा नहीं जाना गया, तो जितना भी ज्ञान होता है जिस किसीको भी वह सब पदार्थका ज्ञान होता है। पदार्थका ज्ञान जिस किसी भी रूपमें हो जाये यह साधन कारण योग्यता आदिककी कला है।

धर्मोंसे धर्मका अभेद और उनका परिचय करनेके लिये भेदव्यवहार कोई शंकाकार पूछ रहा है कि हमको तो यह नहीं जंचता कि धर्मो याने पदार्थ कोई चीज है, जो कुछ है वह सब धर्म ही पूर्ण पूर्ण वस्तु है अन्यथा बताओ जैसे रूपका और पुद्गलका ही विचार कर लो। रूप धर्म है, पुद्गल धर्मो है याने रूपवान है तो वह रूप पुद्गलसे न्यारा है कि अभिन्न है। अगर कहो कि रूप पुद्गल अलग है तो पुद्गलका यह रूप है, यह कैसे कह सकते? जब अलग ही है तो जिस चाहेका कह दो या किसीका ही न कह सकें। रूप रूप है, तो रूप अगर पुद्गलसे न्यारा है तो पुद्गलका है, यह कथन ही गलत है और कहो कि रूप पुद्गलमें एकमेक है तो एकमेकके मायने यह हैं कि रूप और पुद्गल एक हो गए, दो रहे ही नहीं, तो नाम ही क्यों लो यह? ऐसे ही बहु बहुविध आदिक जो १२ धर्म कहे, ये पदार्थके बताये जा रहे हैं तो यह बताये कोई कि ये १२ धर्म पदार्थसे भिन्न हैं या अभिन्न हैं? अगर पदार्थसे भिन्न हैं तो ये पदार्थके धर्म हैं, यह कथन ही गलत हो जायेगा। अगर पदार्थोंसे अभिन्न है तो दो नाम ही न कहना चाहिए। चीज एक ही है। धर्म धर्मो ही न रहे।

इस शंकाके समाधानमें अधिक कहना तो यों व्यर्थ है कि यह सारी बात प्रतीति सिद्ध हो रही है। पुद्गलसे रूप कहीं अलग नहीं दिखता और पुद्गलको ही देखकर आंखसे खुले रूपमें जाना जा रहा है, घ्राणसे गंध जाना जा रहा है, रसनासे केवल रस जाना जा रहा है, और अलग सो है नहीं और परिचय अलग-अलग रूपसे हो रहा, इसीके मायने हैं कि किसी दृष्टिसे तो यह भिन्न कहा जा सकता और किसी दृष्टिसे इसे अभिन्न कहा जा सकता, ऐसे ही जब बहु बहुविध आदिक धर्मोंका ज्ञान हो रहा है तो वह ज्ञान सब एक मतिज्ञान है। उसका विषय यह पदार्थ है। उस-उस रूपमें ज्ञान हो रहा।

पूर्वोक्त दो सूत्रों सहित इस सूत्रका प्रतिलोमविधिसे अर्थ इससे पहले सूत्र कहे गए हैं उनको अगर एक ही जगह रखकर एक ही वाक्य मान लिया जाये तो यों अर्थ होगा सूत्र यों है अवग्रेहावायधारणाः, बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणाम्, अर्थस्य । अब इन तीन सूत्रोंका विपरीत प्रकारसे अर्थ बनाओ। पदार्थके बहु बहुविध आदिक १२ प्रकारके धर्मोंका अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा होता है। पदार्थ क्या चीज है? इस विषयमें कुछ थोड़ा और समझना है। पदार्थ मायने व्यक्त पदार्थ। चूंकि आगे सूत्र आयेगा व्यञ्जनस्यावग्रहः अर्थात् अध्रुव पदार्थके अवग्रह ही होता है, उससे भी यह ध्वनित हुआ कि यहाँ अर्थस्यका अर्थ है कि व्यक्त पदार्थके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये सब मतिविशेष होते हैं। तो द्रव्य और पर्यायस्वरूप जो पदार्थ है उसीका नाम है व्यक्त पदार्थ। यद्यपि पदार्थ ही व्यंजनविग्रहका विषय है, मगर अर्थाविग्रहका विषय है व्यक्त पदार्थ, जो स्पष्ट हुआ और जब स्पष्ट नहीं हुआ ज्ञानमें तो वह कहलाता है अव्यक्त पदार्थ, जिस पदार्थका व्यंजनावग्रह ज्ञान होता है। तो पदार्थरहित पदार्थकी पर्याय नहीं जानी जाती, किन्तु पर्याययुक्त पदार्थ जाना जाता है, क्योंकि कोई भी वस्तु पर्यायसे रहित नहीं है और कोई भी पर्याय वस्तुसे रहित नहीं है। चीज है और प्रतिक्षण उसमें अवस्थायें आती रहती हैं, इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पदार्थके बहु आदिक धर्मोंका अवग्रहादिक होता है और यही मतिज्ञान माना गया है। अब अव्यक्त पदार्थके कौन-कौनसे मतिविशेष होते हैं, इसका उत्तर देते हैं।

व्यञ्जनास्यावग्रहः ॥ १८ ॥

अव्यक्त पदार्थके अवग्रह तक ही हो सकनेका नियम व्यंजन पदार्थके अर्थात् अव्यक्त पदार्थके अवग्रहज्ञान होता है। यहाँ व्यंजनका अर्थ अव्यक्त है। अव्यक्त पदार्थके याने अस्पष्ट पदार्थके अवग्रह ही होगा। ईहा, अवाय, धारणा, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये ज्ञान नहीं होते। कोई शंका करता है कि जब पहले सूत्रमें बता दिया कि व्यक्त पदार्थके अवग्रहादिक होते हैं तो अपने आप सिद्ध हो गया कि व्यंजन पदार्थके अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक न होंगे? इसके समाधानमें कहते हैं कि यह सूत्र नियम करनेके लिए कहा गया है याने अव्यक्त पदार्थके अवग्रह ही होता है। जब कोई बात अपने आप सिद्ध होती है और उसे दुबारा कहा जाये तो उसमें नियम बन जाया करता है। अव्यक्त चीज क्या? अव्यक्त स्पर्श, अव्यक्त रस, अव्यक्त गंध और अव्यक्त शब्द। आंखोंसे जो देखा जायेगा वह अव्यक्त नहीं रह सकता व स्पष्ट रहेगा। चाहे पासका देखे, चाहे दूरका देखे। मनसे जो सोचा जायेगा वह अव्यक्त न रहेगा, चित्तमें स्पष्ट हो जायेगा, पर स्पर्श, रस, गंध, शब्द ये चार किसीको स्पष्ट भी ज्ञात होते हैं, किसीको अस्पष्ट भी ज्ञात होते हैं। जैसे छूनेमें कुछ आया तो कभी किसीको ऐसा लगता है कि क्या था? कुछ था, समझमें न आया, कैसा था, क्या था? इसी तरह रस, गंधका भी होता है और शब्दका भी समझमें आता है। चले जा रहे हैं, कोई शब्द सामान्य रूपसे सुननेमें आये, फिर खत्म, फिर सोचते भी हैं कि किसका शब्द था वह, पर निर्णयमें नहीं आ पाता। तो ऐसे अस्पष्ट पदार्थका अवग्रह होता है।

यहाँ यह समझना चाहिए कि रूपका और मनके विषयका अस्पष्ट अवग्रह क्यों नहीं होता, शेष चारका अस्पष्ट क्यों होता? तो इसका कारण यह है कि जो इन्द्रियसे भिड़कर जाननेमें आया उसका तो स्पष्ट और अस्पष्ट इन दोनों तरह ज्ञान होता, और जो पदार्थ इन्द्रियसे भिड़े बिना दूरसे ही समझमें आ जाये वह पदार्थ स्पष्ट ही होता है याने साफ जाननेमें आता है।

अप्राप्यकारी इन्द्रिय द्वारा जन्य ज्ञानमें अस्पष्टताका अनवकाश सुननेमें भले ही उल्टी बात लग रही होगी कि जो पदार्थ बहुत दूर है वह तो हो जाता है बिल्कुल साफ विदित और जो पदार्थ इन्द्रियसे भिड़े वह पदार्थ साफ भी विदित हो और न भी हो, यह उल्टा कुछ नहीं है, स्पष्ट चीज है। जैसे कोई कोरा घड़ा है, उस पर दो-चार बूंद पानीकी डाल देवें तो वह अव्यक्त गीला होता है। समझमें तो न आयेगा कि गीला हो गया और उस पर १०-१५-२० बूंद पानी डालता रहे तो स्पष्ट समझमें आता है कि यह घड़ा गीला हो गया। तो चूँकि वह जल भिड़ता है घड़ेसे तो उसमें दोनों प्रकार हो गए कितना भिड़े तो अव्यक्त रहे और कितना भिड़े तो स्पष्ट हो जाये। और जैसे दूरसे रोशनी हुई घड़े पर, घड़ा व्यक्त हो गया, मालूम पड़ गया, चाहे धुंधला दिखे, चाहे कैसा ही। स्पर्शन इन्द्रिय स्पर्शसे भिड़कर जानती है। चीज छूनेमें आयी तो ठंडा गर्म आदिक जाना जाता है। अब किस तरह छूनेमें आये तो बढ़िया जाना जाये और कितना छूनेमें आये तो साफ न जाना जाये, यह भेद पड़ जाता है। पर आंखोंसे जब पदार्थ देखते हैं तो वहाँ यह भेद नहीं पड़ता, क्योंकि नेत्र पदार्थसे भिड़कर नहीं जानते, दूरसे जानते तो जो दीखा वह साफ ज्ञानमें आ जाता है। ऐसे ही मनसे जो सोचा सामने एक बना हुआ सा रहता है। तो यह व्यंजनावग्रह चूँकि आंखसे और मनसे नहीं हो सकता, इसलिए यह स्पष्ट ही है, स्पष्ट नहीं होता, पर ईहा आदिक स्पष्टके होंगे, अस्पष्टके न होंगे। अवग्रह तो कहते हैं किसी पदार्थको जानने चले तो प्रारम्भमें जो सामान्य जानकारी बनती है उसका नाम अवग्रह, फिर उस पदार्थमें कुछ विशेषका ज्ञान होता है विशेष रूप से। जैसे दूरसे देखा कि यह मनुष्य है, ऐसा जाना तो अवग्रह है और जब यह जाना कि यह अमुक चंदसे हैं यह हुआ ईहा और जब समझमें आ जाये कि अमुक चंद ही हैं तो वह हुआ अवाय और उसे न भूले तो यह हुई धारणा। तो ईहा, अवाय, धारणा तो तब ही होंगे जब पदार्थ स्पष्ट हो जाये। तो अस्पष्टके अवग्रह ही होता, ईहा आदिक नहीं हो सकता। ऐसा नियम बनानेके लिए यह सूत्र कहा गया है।

यहाँ कोई पूछे कि जब इन्द्रियसे अर्थावग्रह जाना, इन्द्रियसे व्यंजनावग्रह जाना, फिर इन दोनोंमें यह भेद कैसे आया कि व्यंजनावग्रह तो अस्पष्टको जाने और अर्थावग्रह स्पष्ट जाने? तो इसका उत्तर यह है कि जानने वाले जीवके ज्ञानावरणके क्षयोपशमकी विशेषता है। जिसको विशेष क्षयोपशम है वह स्पष्ट जानता है, जिसको हीन क्षयोपशम है वह अस्पष्ट जानता है। यहाँ यह शंका न रखनी कि जो प्रत्यक्ष होता है सो स्पष्ट ही है। प्रत्यक्ष स्पष्ट और अस्पष्ट दोनों तरह होते हैं। मगर कहा क्यों गया कि प्रत्यक्षज्ञान स्पष्ट होता है? कहा यों गया कि जितने अंशोंमें कुछ परख पाया वहाँ आंशिक स्पष्टता है। जैसे कभी तेज धूप में, प्रकाशमें आंखें मींचकर बैठ जायें तो भी कुछ दिखता सा है

अथवा उल्लू वगैरा जो दिनमें नहीं देख पाते तो आखिर दिनमें कुछ देख सकते हैं, मगर सब अस्पष्ट है। जिसकी आंखोंमें रोग है, जिसको कम दिखता तो वह कहता ना कि भाई हाथ-दो हाथ दूरकी चीज दिखती है, मगर धुंधलीसी तो देखे वह स्पष्ट और धुंधला वह अस्पष्ट। दूरसे वृक्षोंको देखा। जो देखा वह स्पष्ट और कितना बड़ा है, कैसा है, यह ज्ञात न होना सो अस्पष्ट। इसी तरह इस सांख्यवहारिक प्रत्यक्षमें अस्पष्टका ज्ञान, स्पष्टका ज्ञान दोनों ही सम्भव हैं और फिर स्याद्वादमें तो शंका ही नहीं है, क्योंकि यहाँ तो वास्तवमें इन ज्ञानोंको परोक्ष कहा गया। 'आद्ये परोक्षं', यह एक स्वयं सूत्र है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान होते हैं, पर व्यवहारसे ये मतिविशेष प्रत्यक्ष कहे गए। तो उसके सांख्यवहारिकमें स्पष्ट और धर्मरूपसे जाना जाता है। इस तरह यह सिद्ध हुआ कि अस्पष्टका अवग्रह व्यंजनावग्रह है और स्पष्टका अवग्रह अर्थावग्रह है।

अस्पष्टप्रतिभासी व्यंजनावग्रहमें श्रुतलक्षणत्वका अभाव यहाँ शंकाकार कहता है कि जो यह बताया गया कि अवग्रहज्ञान अर्थके धर्मोंका होता है और यह स्पष्ट भी होता और स्पष्ट भी होता है। अस्पष्ट अवग्रहको व्यञ्जनावग्रह कहा है। स्पष्ट अवग्रहको अर्थावग्रह कहा है। और अस्पष्ट अवग्रहके लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे दूर देशमें रहने वाले वृक्षादिकमें जो ज्ञान हम लोगोंको होता है वह अस्पष्ट ज्ञान है, वहाँ कुछ विशेष नहीं जाना जा रहा है। इसी प्रकार जो दिनमें नहीं देख पाते, रात्रिमें ही जिन्हें दिखता है विशेष, तो जब दिन होता है तब सूर्यकी किरणोंमें थोड़ा काला-काला सा दिख जाता है तो वहाँ भी विशेष अंशको विषय नहीं किया, सो यह बात तो हम मानते हैं, लेकिन हमारा यह कहना है कि ऐसा जो स्पष्ट अवग्रह हुआ जिन्हें कि व्यंजनावग्रह कहा जा रहा है, यह अस्पष्ट ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है, यह अवग्रह ही नहीं है, किन्तु अस्पष्ट होनेके कारण श्रुतज्ञान है, क्योंकि अस्पष्ट विकल्परूप तर्कणार्थे करना श्रुतज्ञानका काम है।

इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि ऐसा कहना संगत नहीं है। इसका कारण यह है कि एक तो प्रत्यक्षसिद्ध बात है कि इन्द्रियसे ही देखकर जानकर यह अस्पष्ट प्रतिभास बन रहा है और फिर अनुमानविरुद्ध भी है। किस तरह? देखिये अधिक दूर रहने वाले वृक्षादिकका ज्ञान इन्द्रियजन्य है, क्योंकि इन्द्रियके साथ इस ज्ञानका अन्वयव्यतिरेक चल रहा है याने इन्द्रियके होने पर यह ज्ञान हो रहा है, इन्द्रियव्यापारके बिना नहीं होता तो जो दूरवर्ती पदार्थोंका अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है सो वह बराबर इन्द्रियजन्य है। इस प्रकार उल्लू आदिक तमाम पक्षियोंको दिनमें अस्पष्ट प्रतिभास हो रहा है वह भी इन्द्रियजन्य है, क्योंकि इन्द्रियके न होने पर नहीं होता यह सब ज्ञान। और फिर व्यंजनावग्रह ही क्या? अर्थावग्रह स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अनुमान, ईहा, अवाय, धारणा ये सब परोक्ष कह दिए जायें तो यह तो सिद्धान्त ही है। एकदेश स्पष्ट होनेके कारण इस मतिविशेषको सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जा रहा है। तो व्यंजनावग्रह भी अर्थावग्रहकी भाँति इन्द्रियजन्य है। यहाँ यह बात समझनी कि अस्पष्ट जानकारी होना श्रुतज्ञानका लक्षण बताया वह ठीक नहीं है। भले ही श्रुतज्ञानमें अस्पष्ट प्रतिभास है, मगर जहाँ-जहाँ अस्पष्ट प्रतिभास हो वह सब श्रुतज्ञान है ऐसा लक्षण नहीं कहा जा

सकता, क्योंकि ऐसा कहने पर स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक भी श्रुतज्ञान कहलाने लगेंगे। मतिज्ञानसे जिस पदार्थका ज्ञान किया गया अब उसमें मनके बलसे ऐसा अस्पष्ट प्रतिभास हुआ, जो स्वसम्बेदन प्रत्यक्षसे निराला हो और नाना प्रकारके स्वरूपोंका प्ररूपण हो रहा हो वह श्रुत है। ऐसा मान लेने पर तो सही ही बात है। सो ही कहा है आगममें कि “श्रुतमतिपूर्व”। लेकिन इस तरहका ज्ञान इन दूरवर्ती पदार्थोंके निरखनेमें नहीं है। यहाँ ऐसा नहीं है कि पहले मतिज्ञानसे कुछ जाना अस्पष्ट और उसके बाद फिर यह अस्पष्ट ज्ञान हो रहा है, किन्तु सीधा ही आंखोंसे निरखकर इन दूरवर्ती वृक्षोंका ज्ञान चल रहा है और वह अस्पष्ट चल रहा है। यहाँ भी यद्यपि कुछ तो जाना, इस अंशसे तो वह सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है, मगर जो अस्पष्ट प्रतिभास है वह बीचमें अन्य ज्ञान करके नहीं हो रहा है, किन्तु सीधा ही इन्द्रियसे जन्य हो रहा है। यह ज्ञान श्रुतज्ञान, स्मृतिज्ञान आदिककी अपेक्षा स्पष्ट है, इस कारण सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष है, पर विशेष अंशका बोध नहीं हो पाता, इस कारण अस्पष्ट है।

परोक्षज्ञानोंमें अस्पष्टताकी संभवता अब यहाँ कोई दार्शनिक शंका कर रहा है कि हम तो ऐसा समझते हैं कि जितने भी ज्ञान होते हैं समस्त ज्ञान स्पष्ट ही होते हैं, क्योंकि अपने-अपने विषयको जाननेमें अन्य किसीको भी उन ज्ञानोंकी व्यवस्था करानेका योग नहीं है। सभी ज्ञान अपने आपके विषयके व्यवस्थापक बनते हैं। तो जब सभी ज्ञानोंमें यह कला है कि अपने आपके विषयके व्यवस्थापक हैं और स्वयं जानते हैं तो सभी स्पष्ट ही तो कहलाये, और इस रीतिके अनुसार व्यंजनावग्रह भी अस्पष्ट नहीं हैं, वे भी स्पष्ट हैं। इस शंकाका समाधान करते हैं कि सभी लोग निर्बाध स्पष्ट प्रतिभासका स्पष्ट अनुभव करते हैं और अस्पष्ट प्रतिभासमें अस्पष्टकी जानकारी करते हैं तो यह स्पष्ट और अस्पष्टपना ज्ञानोंमें अनुभवसिद्ध है, प्रतीतिसिद्ध है। इसलिए प्रतीतिसिद्ध, प्रत्यक्षसिद्ध, युक्तिसिद्ध निर्णयोंका अपलाप न करना चाहिए।

ज्ञानमें स्पष्टत्व व अस्पष्टत्व धर्मका विचार अब यहाँ कोई शंकाकार कहता है कि अस्पष्ट होना यदि ज्ञानका धर्म है तो फिर बार-बार यह क्यों कह रहे हो कि अर्थ अस्पष्ट है? ज्ञानके अस्पष्ट होनेसे अर्थको अस्पष्ट कह देना अच्छा तो नहीं है अन्यथा किसीका धर्म किसीमें ही लगाया जा सकता है। ऐसा कहने वाले शंकाकार यह बतायें कि जो ज्ञानको स्पष्ट ही स्वीकार करते हैं, अस्पष्ट प्रतिभास नहीं मान रहे हैं तो स्पष्ट होना भी तो एक धर्म है। तो वह स्पष्टता यदि ज्ञानका धर्म है तो फिर पदार्थकी स्पष्टता क्यों कहते हो? अगर कहो उपचारसे द्वितीय धर्मका याने ज्ञानके धर्मका विषयमें उपचार कर दिया जाता है इसलिए ज्ञानकी स्पष्टताका प्रयोग पदार्थमें भी होता है। तो यही उत्तर तो स्पष्ट ज्ञानमें है। यहाँ भी अस्पष्ट ज्ञानके धर्मका पदार्थमें उपचार कर दिया जाता है।

अब कोई दार्शनिक कहता है कि ज्ञानमें जो स्पष्टता आती है वह तो प्रकाशके निमित्तसे आ रही है तो इस कथनयुक्त नहीं है। कारण यह है कि अगर प्रकाशके कारण स्पष्टता आती है तो उल्लुवोंको भी तो वही प्रकाश है, फिर दिनमें उन्हें स्पष्ट प्रतिभास क्यों नहीं होता? और फिर आलोक तो यह भिन्न विषय है। ज्ञानका कारण तो स्पष्टताका कारण तो आवरणका क्षय, क्षयोपशम आदि

है, अन्यथा भूत-भविष्य पदार्थोंका आलोक कहाँ रखा है? तो जब उन पदार्थोंके साथ आलोक नहीं मिल रहा तो उनका ज्ञान फिर कैसे होगा? हो तो रहा ही है, इतनेमें जाति, रस, गंध आदिक अनेक पदार्थोंका ज्ञान होता प्रकाशके बिना ही। इससे यह कथन भी युक्त नहीं है कि ज्ञानमें स्पष्टताका कारण प्रकाशका होना है। इस तरह यह मानना चाहिए कि जितने प्रकारका बोध चल रहा है स्पष्ट बोध, अस्पष्ट बोध, यह सब ज्ञानावरणके क्षयोपशमपर निर्भर है। जहाँ स्पष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम है और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है वहाँ स्पष्ट ज्ञान होता। जहाँ अस्पष्ट ज्ञानावरणका क्षयोपशम है, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम है वहाँ अस्पष्ट बोध होता है।

चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह न होनेका निरूपण तो इस प्रकार यह जानना चाहिए कि स्पष्ट ज्ञानावरणके क्षयोपशममें होने वाले व्यंजनावग्रहसे चक्षु और मनके निमित्त नहीं हुआ करते, इसीलिए वह अस्पष्ट है। इस तरह जो मतिविशेषके भेद कहे जा रहे हैं उनमें अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यह १२ प्रकारके पदार्थोंको ६ निमित्तोंसे जानता है याने ५ इन्द्रिय और एक मन। इस कारण $१२ \times ६ = ७२$ भेद प्रत्येकके हुए, किन्तु व्यंजनावग्रह चूँकि अस्पष्ट प्रतिभास है सो उसका उत्पाद सिर्फ चार इन्द्रियोंसे होता है स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण। तो व्यंजनावग्रह भी १२ प्रकारके पदार्थोंको चार इन्द्रियोंसे जानता है, सो इसके $१२ \times ४ = ४८$ भेद हुए। अब व्यंजनावग्रह अस्पष्ट ज्ञान क्यों है, उसका समाधान देनेके लिए सूत्र कहते हैं।

न चक्षुरिन्द्रियामयं ॥ १६ ॥

सूत्रका अर्थ इतना है शब्दों द्वारा कि चक्षुइन्द्रिय और मन इन दोनोंसे नहीं होता। अब इन दोनोंसे क्या नहीं होता? क्या अवग्रहादिक ज्ञान नहीं होते या व्यंजनावग्रह नहीं होता? ऐसी एक जिज्ञासा हो सकती है। तो समाधान यह है कि इसके अनन्तर पूर्व सूत्रमें जो कहा हो उसकी अनुवृत्ति लेनी चाहिए अर्थात् 'व्यंजनस्यावग्रहः' इसकी अनुवृत्ति आयेगी तो अर्थ यह हुआ कि व्यंजनावग्रह चक्षु और मनसे उत्पन्न नहीं होता। अच्छा व्यंजनावग्रहका अर्थ है अस्पष्ट पदार्थका अवग्रह करना और उसे बताया है कि चक्षु और मनसे वह उत्पन्न नहीं होता, ऐसा क्यों है? इसका कारण यह है कि चक्षु और मन अप्राप्यकारी हैं याने पदार्थोंसे भिड़कर आंखें ज्ञान नहीं करतीं, बल्कि आंखों पर पदार्थ भिड़ जाये तो ये कुछ देख ही न सकेंगी। आंखें तो दूरसे ही पदार्थोंका ज्ञान करती हैं, इसी प्रकार मन भी अप्राप्यकारी है। भूत-भविष्य दूरवर्ती पदार्थोंको मन जानता है तो क्या उनसे भिड़कर जानता है? तो ये दो साधन चक्षु और मन चूँकि पदार्थोंसे भिड़कर नहीं जानते, इसलिए इनके द्वारा स्पष्ट ज्ञान ही होता है। यहाँ कोई यह शंका न रखे कि जब आंखें पदार्थोंसे भिड़कर नहीं जानतीं तो आंखें फिर जिस चाहे को जान बैठें। पीठ पीछे कोई चीज रखी है उसे क्यों नहीं आंखें जानतीं? ऐसी शंका इस कारण ठीक नहीं कि आंखोंका और पदार्थका सम्बन्ध तो है, उस सम्बन्धका खण्डन नहीं किया जा रहा, किन्तु पदार्थसे भिड़कर नहीं जानतीं आंखें। सो आंखें अप्राप्यकारी हैं, लेकिन

पदार्थके साथ प्राप्तिरूप सम्बन्ध है। यहाँ प्राप्तिका अर्थ संयोग नहीं, भिड़कर जानना नहीं, किन्तु कितनी दूर पदार्थ रखा हो तो ये चक्षु जान सकें, ऐसे योग्य देशमें पदार्थका अवस्थित रहना, इसे कहते हैं प्राप्तिरूप सम्बन्ध। हाँ तो जो इन्द्रियाँ भिड़कर जानती हैं उन इन्द्रियोंसे कभी स्पष्ट प्रतिभास होता है, कभी अस्पष्ट प्रतिभास होता है। इसका कारण यह है कि वहाँ प्राप्तिका भेद है याने कितनी दूर हो तो स्पष्ट बने और कितनी दूर पास हो कि अस्पष्ट बने, ऐसे प्राप्तिके भेदके कारण और अंतरंग योग्यताके कारण प्राप्यकारी इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट और अस्पष्टका ग्रहण होता है।

जैसे नया सकोरा हो मिट्टीका और उस पर दो-चार बूँद पानी डाल दें तो अस्पष्ट गीलापन रहेगा, स्पष्ट न होगा, व्यक्त न होगा और लगातार अनेक बूँद पड़ जायें तो उसका गीलापन स्पष्ट हो जायेगा। तो जैसे यहाँ प्राप्तिके भेदसे व्यक्तपना और अव्यक्तपना है, ऐसे ही यहाँ भी याने अवग्रहमें भी प्राप्तिके भेदसे अस्पष्टपना और स्पष्टपना है। यहाँ प्राप्तिका मतलब है प्राप्यकारी से। अच्छा, और जो अप्राप्तिकारी चक्षु और मन हैं, वे पदार्थकी स्पष्ट ही जानकारी बनाते हैं। इसका कारण यह है कि अप्राप्तिके भेद नहीं हुआ करता। जैसे घड़ेमें तो भेद है, कोई छोटा घड़ा, कोई बड़ा घड़ा, पर घड़ेके अभावमें क्या भेद? जैसे घड़ेका अभाव, किवाड़का अभाव, भीत का अभाव। अभावमें क्या भेद पड़ता है? तो ऐसे ही जो इन्द्रियाँ भिड़कर जानती हैं उनके भिड़नेमें तो भेद होता है और उस भेदके अनुसार प्रतिभास भेद होता है। किन्तु चक्षु और मन जो पदार्थसे भिड़कर नहीं जानते वहाँ प्राप्तिकारीका अभाव है। तो अभावमें क्या भेद है, इस कारण चक्षु और मन पदार्थको व्यक्त ही जान पड़ते हैं।

चक्षुकी अप्राप्यकारिताकी मीमांसा अब यहाँ नैयायिक एक आशंका रख रहे हैं कि जैसे स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण ये पदार्थको छूकर ही जानते हैं, ऐसे ही आंखें भी पदार्थके साथ सम्बन्ध होता है तब जानती है, क्योंकि बाह्यइन्द्रिय होने से। जो-जो बाह्य इन्द्रियाँ हैं वे पदार्थसे भिड़कर ही जानती हैं। हाँ, मन बाह्यइन्द्रिय नहीं है, सो मन पदार्थसे भिड़े बिना जान ले वह तो ठीक है, पर इन्द्रियाँ सभी पदार्थोंसे भिड़कर जानती हैं, ऐसे ही चक्षुइन्द्रिय भी पदार्थसे भिड़कर जानती है।

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि इस कथनमें प्रत्यक्ष बाधा है। यदि आंखें पदार्थसे भिड़कर जानें तो पहले तो आंखें इस काले और सफेद गटाको ही जान लें, जो आंखके पास ही चिपके हुए हैं, जिनके बीचमें ही आंखें बैठी हैं। तो ये आंखें अपने काले सफेद गटा तकको जान नहीं पातीं, और बाहरी पदार्थोंको कहते हैं कि उनको भिड़कर जानती हैं। तो इस तरहसे चक्षु भी प्राप्यकारी हैं, ऐसी सिद्धि करनेमें प्रत्यक्षसे बाधा है। अब अनुमानसे समझिये। अनुमान है कि चक्षु भिड़कर जानने वाले नहीं हैं, क्योंकि वे छूकर नहीं जानते। जो छूकर जानते हैं वे इन्द्रियाँ भी प्राप्यकारी कही जातीं और जो छूकर नहीं जानते उन्हें प्राप्यकारी कैसे कहेंगे? इस अनुमानको सुनकर यदि शंकाकार मनमें यह आशंका रखे कि हम तो शक्तिस्वरूप चक्षुकी बात कर रहे हैं। शक्तिस्वरूप चक्षुमें अंजन, सुरमा आदिक नहीं लगते हैं, इसलिए उसमें कोई दोष नहीं है। तो इसपर उत्तरमें यह ही कहना है कि तुम्हारे

शक्तिमान चक्षु बड़े बेढब हैं कि जहाँ शक्तिमान चक्षु रहता है उस जगहके पदार्थोंसे भिड़ता नहीं है और दूसरे देशमें स्थित पदार्थोंसे भिड़ता है, बड़ा बेढब है यह शक्तिमान चक्षु और ऐसे शंकाकारकी एक ही बात क्या अटपट है? वह तो यह कहता है कि आत्माका निज स्वरूप तो जड़ ही हुआ। अब बाहरी ज्ञान चिपकाकर अपनेको चेतन बनावे तो यह ऐसी विडम्बना है कि जैसे कोई दूसरेके गहने मांगकर अपनेको सम्पन्न बनावे। माँगे हुएसे क्या सम्पन्नता होती है? वस्तुतः तो वह दरिद्र है। तो ऐसे ही यह बात बन गयी कि शक्तिमान चक्षु है वहाँ तो पदार्थका स्पर्श नहीं होता और बहुत दूरमें स्पर्श हो जाता। इसलिए कल्पना करके और-और कुछ माननेमें क्या तत्त्व रखा? जो प्रतीतिसिद्ध है उस ही को मान लेना चाहिए। प्रतीतिसिद्ध बात यह है कि चक्षु भिड़कर नहीं देखतीं, किन्तु दूर रहकर योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थोंको जान लेती हैं।

नियामिका योग्यताके अन्तर्गत तथ्योंको न माननेपर अन्य कल्पनाओंसे ज्ञानपथभ्रष्टता यहाँ शंकाकार कहता है कि चक्षु दो प्रकारके होते हैं एक शक्तिरूप चक्षु, दूसरा व्यक्तरूप चक्षु। व्यक्तरूप चक्षु तो जो लोगोंको दिखता है वह है शक्तिरूप चक्षु। जिसके द्वारा देखा जाता है, ज्ञान होता है वह शक्तिरूप चक्षु है। इसमें प्रथम तो व्यक्तरूप चक्षु का, दूर देश रहने वाले पदार्थके साथ सम्बन्ध होता है और उस सम्बन्धपूर्वक फिर शक्तिरूप चक्षुका सम्बन्ध बनता है, इसी तरह ज्ञान हो पाता है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान नहीं हो सकता।

इस शंकाका समाधान यह है कि यह बात कहनी तो तब भली हो सकती थी जब कि चक्षुमें यह कला न होती कि वह बिना सम्बन्ध किस ही पदार्थको जानती। जब चक्षुमें यह सामर्थ्य है कि बिना सम्बन्ध किए ही पदार्थको जान सकती है तो यह शंका अत्यन्त निर्मूल है, बल्कि चक्षु पदार्थसे सम्बन्ध करके जान ही नहीं सकती। अगर पदार्थसे भिड़कर चक्षु जानती तो आंखमें भिड़ा हुआ जो अंजन है उसे क्यों नहीं आंखें जान पातीं। वह तो खूब डटकर भिड़ा हुआ है। अगर शंकाकार यह कहे कि वहाँ समझनेकी योग्यता नहीं है तो बस योग्यता ही मानो। उस योग्यताके ही द्वारा सब व्यवस्था बनती है और वह योग्यता क्या है? ज्ञानावरणका क्षयोपशम उस योग्यताके होनेपर कोई इन्द्रिय तो किसी अर्थको भिड़कर जानती है और कोई इन्द्रिय किसी अर्थसे अछूता रहकर ही जानती है। जो प्रतीतिसिद्ध बात है उसमें उसका अपलाप करना बुद्धिमानी नहीं है। देखो मन जैसे विषयोंके साथ न भिड़कर भी पदार्थको जाननेकी योग्यता रखता है, ऐसे ही चक्षुइन्द्रिय भी पदार्थसे न भिड़कर ही जाननेकी योग्यता रखती है। तो जो प्रतीतिसिद्ध बात है उसको न मानकर कल्पना करके कुछ सिद्ध करना बुद्धिमानी नहीं है।

चक्षु एवं मनकी अप्राप्यकारिताकी युक्ति प्रतीतिसिद्धता यदि शंकाकार यह कहे कि जो ऐसा कहा है कि चक्षु बिना भिड़े ही पदार्थको जानती होती तो आंखमें लगे हुए अंजनका क्यों न ज्ञान करा देती? और दृष्टान्त देते हैं मनका। तो दृष्टान्त तो सही न मिला, क्योंकि मन तो भिड़े पदार्थको जान जाता है। जैसे सुख-दुःख उत्पन्न हुए तो उन्हीं प्रदेशोंमें ही तो सुख-दुःख होते हैं। जहाँ मन है और

मन सुख-दुःखका अच्छी तरह वेदन करता है। तो देखो भिड़े हुए को जान लिया ना, तो मन तो अप्राप्यकारी न रहा। इस शंकाका समाधान यह है कि प्रकृतमें जो हेतु दिया जा रहा है वह चक्षुको अप्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए दिया जा रहा है और मनको अप्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिए अन्य युक्ति है। वह क्या? मन अप्राप्यकारी है, क्योंकि शरीरके हृदय देशसे अतिरिक्त अन्य जगहों में, अन्य प्रदेशोंमें सुख-दुःख आदिक का ज्ञान कराने वाला है। अथवा दूसरा हेतु यह है कि भूत, भविष्य व दूरवर्ती पदार्थोंका ज्ञान कराने वाला है। मन तो हृदयमें रहता है और सुख-दुःखका वेदन हृदयसे अतिरिक्त किसी भी अंगमें सुख-दुःख हो रहा हो उसका भी वेदन करता है, अथवा दूसरा हेतु और भी स्पष्ट है कि भूतकालकी बातको मान जान लेता है। अब जो गुजर गया उस पदार्थके साथ इस वर्तमान मनका सम्बन्ध कैसे होगा? यदि मन भिड़कर जानने वाला होता तो भविष्यकी बातको कैसे जान सकता था? अत्यन्त दूरकी बातको कैसे जान सकेगा? इसलिए मन अप्राप्यकारी है। यहाँ तो नेत्रको अप्राप्यकारी सिद्ध किया जा रहा है। वहाँ यह हेतु अत्यन्त युक्त है कि यदि नेत्र भिड़कर जानता होता तो नेत्रमें भिड़े हुए अंजनको नहीं जान लेता? जो-जो प्राप्यकारी होता है वह भिड़कर जाना करता है। जैसे स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत। ये अपने विषयसे सम्बन्ध कर, स्पर्श कर जाना करते हैं।

चक्षुको प्राप्यकारी माननेपर अनेक आपत्तियोंका प्रसंग यहाँ प्रसंग चल रहा है कि व्यंजनावग्रह चक्षु और मनके द्वारा नहीं होता, याने अस्पष्ट ज्ञान चक्षु और मनसे नहीं होता, क्योंकि जो नेत्रसे देखा जायेगा वह स्पष्ट ही कहलायेगा। जितना देखा उतना स्पष्ट है, यह व्यंजनावग्रह दर्शनोपयोगके बाद होता, इसके बाद अर्थावग्रह आदिक भी हो सकें तो वह व्यंजन न रहा। जो अस्पष्ट ज्ञान है उसके बाद यह योग्यता नहीं कि उस अस्पष्ट अर्थमें ईहा आदिक बन सके। तो आंखें चूँकि भिड़कर नहीं जानतीं, इसलिए जिसे जानेंगी वह स्पष्ट ही रहेगा। जो इन्द्रियाँ भिड़कर जानें वे इन्द्रियाँ स्पष्टको जानतीं, अस्पष्टको भी जानतीं। मूल बात यह चल रही है। तो चक्षुइन्द्रिय पदार्थको छूकर नहीं जानती, इसके लिए यह भी हेतु है। चक्षु बिना भिड़े ही जानती है, क्योंकि अगर भिड़कर जानती होती तो कांच स्फटिक स्वच्छ जलके पीछे कोई पदार्थ पड़ा हो तो वह जाननेमें न आना चाहिए। जैसे लोग खिड़कीके कांच मेंसे बाहरकी चीजें देखते हैं। तो बाहरकी चीजें तब ही तो दिखती हैं कि आंखें कोई भिड़कर नहीं जानतीं। आंखें भी पदार्थको छूकर जानें तो बीचमें तो कांच आ गया, सो आंखें तो कांचसे रुक जायेंगी, फिर उसके पीछे रहने वाले पदार्थ कैसे जान जायेंगे? यदि शंकाकार वहाँ भी यही माने कि आंखें तो उस कांच मेंसे निकलकर पदार्थसे भिड़ जायें तब पदार्थ देखनेमें आते हैं तो भला बतलावो कि अगर ये आंखें पदार्थ कांचको भेद कर जायें और कांचके बाद रहने वाले पदार्थसे भिड़ें तो कांच टूट न जायेगा क्या? पर ऐसा किसीको नहीं दिखता। कांच वहीका वही है और फिर देखो बहुत बड़ा मोटा कांच है उसको तो पार करके आंखें चली जायें दूर रहने वाली चीजोंको देखनेके लिए और रुई, कपड़ा जैसी कोमल चीजोंको भेदकर नहीं जा सकतीं। यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात कही जा रही है?

किसी भी पदार्थका अन्य पदार्थमें प्रवेशकी अशक्यतातसा निमित्तनैमित्तक योगसे औपाधिकार्यकी व्यवस्था यहाँ शंकाकार कहता है कि इसमें क्या आश्चर्य है? आंखें कांच, स्फटिक आदिक जैसे कठोर पदार्थोंको तो भेदकर चली जायेंगी और रुई वगैरा कोमल पदार्थोंसे न भिदेंगी। उससे आंखें छिद्र जायेंगी, यह तो अपनी-अपनी विशेषता है। जैसे लोहेका बना हुआ कोई पदार्थ है, उसको भेदनेमें समर्थ है पारेसे बना हुआ पदार्थ, मगर तुम्बीको वह पारे वाला पदार्थ भेदनेमें समर्थ नहीं है। सूर्यकी किरणें भी तो कांचके भीतर घुस जाती हैं, पर मखमल, रुईके भीतर नहीं घुस पातीं। यह तो पदार्थोंकी अलग-अलग बात है। बिजलीका करेन्ट तांबेमें, लोहेमें प्रवेश कर जाता है, पर रबड़में नहीं कर पाता। तो रबड़ तो कोमल चीज है। इसमें तो बिजली जाती नहीं और कठोर तांबेमें, लोहेमें चली जाती है। इसी तरह यहाँ बात यह है कि आंखकी किरणें कांच आदिकको भेदकर चली जायेंगी, पर रुई आदिकको नहीं भेद सकती हैं।

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि उनका कहना यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि यदि ये आंखकी किरणें कांचके टुकड़ेसे भेदकर चली जायें तो इसके मायने हैं कि वह कांच टूट गया, पर किसीको टूटा दिखता कहाँ है? सभी लोग यही अनुभव करते हैं कि वही कांच है जो अभी देखा जा रहा था तो प्रत्यक्षबाधित बातमें और-और पदार्थोंके दृष्टान्त लगाकर असत्यको सत्य साबित करनेमें चतुराई न समझना चाहिए और देखो जो एक दृष्टान्त दिया कि सूर्यकी किरणें उस कांचको भेदकर चली जाती हैं तब ही तो कमरेमें प्रकाश आ जाता है, सो यह बात भी सत्य नहीं है। सूर्यकी किरणें कांचको भेदें या कही जायें, ऐसा नहीं है किन्तु ऐसा निमित्तनैमित्तक योग है कि सूर्यका सन्निधान पाकर पदार्थ प्रकाशित हो जाता है। तो ये सूर्यके जो पुद्गल परमाणु हैं उनमें यह विशेषता है कि वे पदार्थके प्रकाशित होनेमें निमित्त है और उसमें यह डबल विशेषता है कि वह स्वयं प्रकाशरूप है और दूसरेके प्रकाश होनेमें निमित्त है, पर कांचमें एक विशेषण है कि वह स्वयं प्रकाशरूप तो नहीं है, पर सूर्यका सन्निधान पाकर प्रकाशरूप हुआ कांच अन्य पदार्थोंके प्रकाशमें निमित्त है। तो यह तो निमित्तनैमित्तक योगवश व्यवस्थानायी है। कहीं सूर्यकी किरणें आती हों और कांच मेंसे घुसकर कमरेमें आती हों ऐसी बात नहीं है, और आंखकी बात तो सभीको स्पष्ट है। न आंखमें से किरणें निकलती हुई कोई जानता है और न युक्ति सिद्ध है। तो ये चक्षु अप्राप्यकारी हैं, पदार्थसे भिड़कर नहीं जानते, इसी कारण ये कांचसे पीछे रहने वाले पदार्थोंको भी जान लेते हैं।

नेत्ररश्मिसे कांचके टूटते रहने पर भी शीघ्र शीघ्र उत्पाद होते रहनेसे विनाशकी असमझ होनेके कारण नेत्रकी प्राप्यकारितामें दोषके निवारण करनेका निराकरण यहाँ शंकाकार कहता है कि नेत्रमें किरणें होती हैं और किरणें जाकर पदार्थसे भिड़ती हैं तब ये शक्तिरूप चक्षु उन पदार्थोंको जानते हैं, और वे कांचसे भिड़कर छिदकर भी पहुंच जाते हैं, और उस समय कांच टूट भी जाता है, मगर वह कांच तुरन्त बन जाता है। तो चूंकि कांच जल्दी टूटता है, बनता है, सो बननेका जल्दी-जल्दी काम होते रहनेके कारण और वह कांचका बनना समान-समान आकारका होनेके कारण लोग उसका

विनाश समझ नहीं पाते। तो कांच स्फटिक आदिकका नेत्रकिरणोंके घातके कारण नाश होता रहता है, पर शीघ्र-शीघ्र उसकी उत्पत्ति होती रहती है और समान-समान आकारमें ही कांचकी उत्पत्ति होती रहती है। इस कारण स्थूल दृष्टि वाले मनुष्य ऐसा ही समझते हैं कि यह कांच नष्ट नहीं हुआ। जैसे कि बाल कट गए और फिर नये उत्पन्न हो गए तो उनमें कोई यह नहीं समझ पाता कि ये तो बाल नये उत्पन्न हुए हैं। कहते हैं लोग कि वे ही तो बाल हैं जो शुरूसे ही थे, तो ऐसे ही यहाँ भी स्फटिक और कांच फूटते रहते हैं कि नेत्रके दनादन चोट से, मगर तुरन्त पैदा होते भी रहते हैं, इसलिए लोग नाशकी बात नहीं समझ पाते।

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि यह बात तो प्रत्यक्षविरुद्ध है। इसमें एकत्वको साबित करने वाला प्रत्यभिज्ञान जो बन रहा है वह सिद्ध न हो सकेगा और फिर ऐसा अगर मान लिया जाये कि कांच तो दनादन टूट रहा, उत्पन्न हो रहा तो यह तो क्षणिकवादका सिद्धान्त बन जायेगा जो कि चक्षुको प्राप्यकारी मानने वाले दार्शनिकोंके सिद्धान्तसे विपरीत है। शंकाकार वैशेषिकोंने आत्मा आकाश परमाणु आदिक पदार्थों को नित्य ही माना है, ऐसे ही कांच जैसी बात सबको ही माननी पड़ेगी। तो आत्मा भी तो अनित्य हो गया। तो इसमें तो शंकाकारके सारे सिद्धान्तका विघात हो गया। लेकिन जब इन सब पदार्थोंमें एकताकी बात बराबर ज्ञानमें आ रही है। यह वही है जो बालपनमें था, अब युवापनमें आ गया, ऐसे ज्ञानोंसे पदार्थोंकी नित्यता ही सिद्ध हो रही है। और देखो यदि आंखें कांचको भेदकर, भिड़कर आगे जाती हों तो चाहे कितनी ही जल्दी वह कांच बनता रहे, लेकिन हाथसे कोई टटोले तो कुछ तो अड़चन आनी चाहिए, पर हाथसे टटोलनेमें तो वहीका वही कांच है। तो कैसे कहा जाये कि आंखकी किरणें कांचसे भिड़ीं और ये किरणें बाहर गईं? यदि शंकाकार फिर भी हठ करे कि विनाशके बाद शीघ्र नया-नया कांच स्फटिक उत्पन्न होता रहता है और फिर उत्पन्न हुआ, फिर आंखकी किरणोंने फोन दिया, फिर उत्पन्न हुआ, फिर फोड़ दिया तो ऐसा बराबर उत्पन्न होता रहता है तो उसमें फिर लगातार होनेसे वैसाका वैसा ही नवीन कांच हाथ द्वारा पकड़ लिया जाता। इसीलिए लगता है, ऐसा कि वहीका वही कांच है जैसा था। ऐसा शंकाकारके कहने पर उनसे यह पूछा जा सकता है कि जब आंखकी किरणें उस कांचको तोड़ती-फोड़ती रहेंगी और वह कांच क्षण-क्षणमें नया बनता रहेगा तो ऐसी स्थितिमें आंखकी किरणें भीतर जाकर पदार्थके साथ सम्बन्ध न कर सकेंगी, क्योंकि जब कांच बन गया, उतनी देरको किरणें रुक गईं तो इसमें देखनेमें व्यवधान पड़ते रहना चाहिए, लेकिन व्यवधान तो नहीं मालूम पड़ता, निरन्तर दिखाई देता है।

भावाभावात्मक पदार्थमें भाव या अभावके किसीका एकान्त करनेके मन्तव्यके पक्षपातमें वस्तुस्वरूपसिद्धिकी अशक्यता यदि शंकाकार यह कहे कि वहाँ जैसे पहले आंखकी किरणोंने कांचको फोड़ दिया। उसके बाद वह पहिले जैसा उत्पन्न हो गया। तो यहाँ समझिये पहले कांच ढूँढा, फिर उत्पाद हुआ, फिर फोड़ दिया, फिर उत्पन्न हुआ तो वह कहलाया तीसरे समयमें उत्पाद, तो पहला

समय और तीसरा समय ये जल्दी हुए ना, फिर ५वें समय फिर ७वें समय ये उत्पाद जल्दी-जल्दी होते रहते हैं। तो बीचके समयका विनाशका तिरोभाव हो जाता है, वह समझमें ही नहीं आता विनाश, इस कारण वहाँ जो उपयोग लगा रहा है जीव उसको देखनेमें बाधा नहीं आती, क्योंकि आगे-पीछे होने वाले उत्पादके बीच विनाश तो छिप ही जाता है।

इस शंकाके समाधानमें सभी सोच सकते हैं कि जैसे पहले और तीसरे समयके उत्पादमें विनाश टक जाता है तो ऐसे ही दूसरे और चौथे समयके विनाशके बीचका उत्पाद क्यों न टक जायेगा? फिर तो जैसे कांच ही कांच सही दिख रहा, ऐसे ही निरन्तर टूटा-फूटा हुआ दिखना चाहिए। इससे सिद्ध है कि न कांच टूटता है और न कांचको फोड़कर किरणें जाती हैं। यहाँ शंकाकार कहता है कि जो हमें दिया है कि आंखकी किरणोंसे टक्करके कारण कांच टूटता रहता है और तुरन्त नया बनता रहता है, इसमें जो यह कहा कि उत्पत्ति जल्दी-जल्दी होती रहती है, इसलिए उत्पत्तिके बीच विनाश दब जाता है, और इसके एवजमें यह प्रसंग चलाया कि जैसे उत्पत्तिके बीच विनाश दब जाता, ऐसे ही विनाशके बीच उत्पत्ति क्यों नहीं दब जाती? और तब तो कांच हमेशा टूटा-फूटा ही दिखना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि शंकाकार ही कह रहा है कि जो दो उत्पाद हैं उनके बीच जो विनाश है सो विनाश तो है अभावरूप और उत्पाद है भावरूप। तो भाव स्वभाव बलवान होता है, इस कारणसे उत्पादोंके द्वारा विनाशका तिरोभाव होता है, क्योंकि अभाव तो दुर्बल चीज है। अभाव क्या है? अभावमें कोई बल है क्या? चीजमें ही तो बल होता है, जो सद्भावरूप है। सो उत्पाद है सद्भावरूप और विनाश है अभावरूप, सो भाव होता है दुर्बल और सद्भाव होता है बलिष्ठ। इसलिए जो कांच उत्पन्न होते रहते हैं उन्होंने कांचके विनाशको दबा दिया। शंकाकारकी उक्त शंकाका समाधान यह है कि यह कहना कि भाव बलवान होता है और अभाव दुर्बल होता है, यह युक्त कथन नहीं है। भाव और अभाव दोनों समान बल वाले होते हैं, क्योंकि इनमेंसे यदि यह कहा जाये कि अभाव बलवान नहीं है तो वस्तुकी प्रतीति नहीं हो सकती और यह कहा जाये कि भाव बलवान नहीं है तो वस्तुकी प्रतीति नहीं हो सकती।

जैसे कहा कि यह पुस्तक तो यह पुस्तक पुस्तकके सद्भावरूप है और वस्तुसे अतिरिक्त अन्य सभी पदार्थोंके अभावरूप है। अब इनमेंसे किसको दुर्बल कहेंगे? पुस्तक अपने चतुष्टयसे है, इसको अगर दुर्बल कहा तो पुस्तक न रही और पुस्तक अन्य पदार्थ रूप नहीं है। अगर अन्य रूप नहीं है इस भावको दुर्बल कहेंगे तो इसके मायने हैं कि अन्य रूप हो गया। फिर पुस्तक न रही, इसलिए वस्तुमें सद्भाव और अभाव दोनों ही समान बलवान हैं। वस्तुका स्वभाव ही है यह कि अन्यसे विविक्त रहे और अपने एकत्वमें रहे। और भी देखिये अभाव कितना बलिष्ठ होता है? अभाव चार प्रकारके बताए गए हैं (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) इतरेतराश्रय भाव और (४) अत्यन्ताभाव। यदि वस्तुमें प्रागभाव न मानते, उसे दुर्बल कर देते, हटा देते तो इसका अर्थ यह है कि किसी भी वस्तुके पहले पर्यायमें अभाव नहीं है। इसके मायने हो गये कि अवस्था अनादि है, याने प्रत्येक अवस्था

अनादि है और यदि प्रध्वंसाभाव नहीं मानते तो इसका अर्थ यह हो गया कि किसी भी अवस्थाका उत्तरपर्यायोंमें अभाव नहीं है। तो अवस्था अनंतकालीन हो जायगी। अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव नहीं मानते तो इसका अर्थ यह हो गया कि सब कुछ, सब कुछ रूप है तो चीज ही न रही। तो कैसे कहा जाये कि अभाव बलवान नहीं होता। तब यह ही समस्या खड़ी रही कि चक्षुइन्द्रियकी किरणें अगर कांचसे भिड़कर चली जाती हैं। तो कांचका टूटना मालूम होना चाहिए या जल्दी उत्पन्न हो जाता है कांच तो उस ज्ञानका अन्तर मालूम होना चाहिए कि जब कांच बने तो चीज न दिखे आगे की। जब कांच टूटे तब चीज दिखे आगे की। इससे चक्षुइन्द्रियको प्राप्यकारी कहना उचित नहीं है। तो चक्षु अप्राप्यकारी हुई और अप्राप्यकारी होनेसे चक्षुइन्द्रिय द्वारा जो जाना जायेगा वह स्पष्ट जाना जायेगा। इसी कारण व्यंजनावग्रह चक्षुइन्द्रियसे नहीं बनता। ज्ञानका कैसा विलास है कि किस आत्माका ज्ञान, किस पदवी में, किस रूपमें चलता है, यह सब ज्ञानावरणके क्षयोपशम आदि पर निर्भर है, क्योंकि अनंतरंग कारण ज्ञानावरणका क्षयोपशम आदिक ही है।

प्रकाश द्वारा नेत्ररश्मियोंके अविभाव हो जानेकी कल्पनामें ज्ञानका अभाव अब अन्य बात पर विचार करो। भला यह बतलाये कोई कि नेत्रोंकी किरणें कहीं प्रसिद्ध भी हैं? फिर तो यह बादमें कहें कि वे किरणें दनादन निकलती हैं और कांचको तोड़कर आगे चली जाती हैं। हम लोगोंके किसीके भी नेत्रकी किरणें देखी ही नहीं जातीं। शंकाकार कहता है कि देखो जैसे कोई छोटी रोशनीका दीपक है या बहुतसी छोटी मोमबत्ती जल रही हैं, अब दिनमें धूपमें रखा हुआ वह दीपक जब कि खूब तेज रोशनी सूर्यकी है तो वह कुछ दिखता है क्या? क्यों नहीं दिखता अथवा क्यों कम दिखता? यों कि सूर्यकी रोशनीसे उस टिमटिमाते दीपककी रोशनी दब गई है, ऐसे ही जब उजेला होता है तो उस उजेलेके द्वारा आंखकी किरणें दब जाती हैं। इसलिए लोगोंको आंखकी किरणें दिखती नहीं हैं।

इस शंकाका समाधान यह है कि अगर उजेलाने आंखकी किरणोंको दबा दिया और नहीं दिखता है तो रात्रिमें तो दिखनी चाहिएं नेत्रकी किरणें निकलती हुई, क्योंकि वहाँ उजेला नहीं है, कोई दबाने वाला है नहीं, इस कारण एक कल्पना बनाना कि आंखमें किरणें होतीं। वे किरणें पदार्थोंसे संघर्ष करती हैं तब पदार्थ जाना जाता, इस कल्पनासे क्या लाभ है?

चक्षुके तैजसत्व और रश्मिवत्त्वकी असिद्धि शंकाकार यहाँ कहता है कि आंखमें किरणें तो हैं, पर वे किरणें अनुद्भूत रूप हैं, याने उनका रूप, उनका तेज प्रकट नहीं है, भीतर ही है, इस कारणसे लोगोंको आंखकी किरणें नहीं दिखतीं। ऐसी आशंका करने वाले कोई प्रमाण तो दें, जिससे यह सिद्ध हो जाये कि किरणोंका रूप तो प्रकट नहीं है, बाहर दिखता नहीं है, मगर है जरूर। इसकी सिद्धि करनेके लिए वे कोई प्रमाण तो दें। शंकाकार प्रमाण देता है कि देखो आंखें किरणें वाली हैं, क्योंकि तैजस होने से। जो-जो तैजस होता है वह किरणों वाला होता है, जैसे दीपक तैजस है। तैजस मायने अग्निसे बना हुआ। सो उसमें किरणें हैं। तो ऐसे ही आंखें भी अग्निसे बनी हैं, तैजस हैं, इस कारण किरणें जरूर होनी चाहिएं। कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि शरीरमें जो गंध वाली चीज है वह तो

पृथ्वीसे बनती है, और शरीरमें जो रसीली चीज है वह जलसे बनती है और जो स्पर्श वाली चीज है वह वायुसे बनी और आंखें अग्निसे बनीं, या इन्द्रियमें लगायें। स्पर्शनइन्द्रिय वायुसे बनी, रसनाइन्द्रिय जलसे बनी, घ्राणइन्द्रिय पृथ्वीसे बनी और चक्षुइन्द्रिय अग्निसे बनी, कानोंको आकाशसे बना कहते हैं। तो ऐसा कहने वाले लोगोंने इन शंकाकारोंको ऐसा समझ रखा कि आंखें अग्निसे बनती हैं और उसमें किरणें होती हैं। उसी आधारपर यह अनुमान बना रहे हैं कि नेत्र किरणों वाले होते हैं, क्योंकि तेजोद्रव्यसे बने हुए हैं, और कोई कहे कि आंखें तैजस हैं, उसको ही सिद्ध करो, तो सुनो आंखें तेजोद्रव्यसे बनी हुई हैं, क्योंकि पदार्थमें रस, गंध, रूप शब्द इकट्ठे हैं, लेकिन आंखें रूप ही देखती हैं, इससे आंखें अग्निसे बनी हुई हैं, ऐसा शंकाकार कहता है।

इसके समाधानमें कहते हैं कि आंखको अग्निसे बनी हुई है, ऐसा सिद्ध करके लिए जो हेतु दिया है कि चूंकि वह केवल रूपका ही प्रकाश करती है तो यह हेतु सही न रहेगा, क्योंकि चन्द्रमा भी रूपका प्रकाश करता है, पर चन्द्रमा तो अग्निसे नहीं बना। तो जब आंखें तैजस ही नहीं हैं तो किरणें कहाँसे आयेंगी? और जब आंखोंमें किरणें नहीं होतीं तो आंखें छूकर कैसे जानेंगी? इससे सीधा यह मानना चाहिए कि और इन्द्रियाँ तो छूकर जानती हैं, पर आंखें पदार्थको छूकर नहीं जानतीं, ये बिना छुवे ही जानती हैं, और जो बिना छुवे जाने वह साफ जानेगा, स्पष्ट जानेगा। तो चक्षु स्पष्ट जानते हैं, इस कारण व्यंजनावग्रह चक्षुइन्द्रियके द्वारा उत्पन्न नहीं होता।

प्रकाशापेक्षी हेतु बताकर चक्षुको तैजस सिद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास यदि चक्षुके किरणें होतीं, चक्षु तैजस होता तो चक्षुसे देखनेके लिए फिर प्रकाशकी जरूरत न रहती, क्योंकि जो तैजस होता है उससे खुद ही प्रकाश होगा, फिर अन्य प्रकाशकी क्या जरूरत? लेकिन जरूरत पड़ ही रही है, मनुष्य प्रकाशके बिना देख नहीं सकता। तो इससे सिद्ध है कि चक्षु किरणें वाली चीज नहीं है, तैजस नहीं है। अब यहाँ शंकाकार कहता है कि बात यह है कि जैसे कोई दीपक बहुत हल्का प्रकाश रखता है, टिमटिमातासा है तो फिर उस दीपकसे काम नहीं चलता। तो अन्य और बड़े दीपककी जरूरत पड़ती है। इसी प्रकार जो नेत्रकी किरणें हैं वे स्वयं प्रकाशी हैं इसलिए उन्हें सूर्यचन्द्र आदिकमें प्रकाशकी जरूरत पड़ती है, क्योंकि अपने द्वारा जो काम होता है उसमें सहायता मिलती है समान जाति वाले कारण से, इससे नेत्र तैजस हैं और तैजस ही होनेके कारण उनकी मददके लिए सूर्य आदिक बड़े प्रकाशकी अपेक्षा बनती है।

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि देखो जैसे कोई कितना ही छोटा दीपक है टिमटिमातासा, उसे अपने आपके प्रकाशके लिए अन्य सूर्यादिककी अपेक्षा नहीं होती। तो कमसे कम मंद दीपक भी हो तो उसमें स्वभाव तो पड़ा है कि वह अपना और पदार्थका प्रकाश करता है, लेकिन मनुष्योंको तो कभी भी यह नहीं देखा जाता कि आलोकके बिना वे देख सकें। मंदसे ही मंद दीपक हो तो उसे भी अपने प्रकाशनके लिए अन्य दीपोंकी आवश्यकता नहीं होती। हाँ, बड़े लम्बे-चौड़े पदार्थोंके प्रकाशके लिए अच्छे दीपककी जरूरत होती है। तो मंद दीपकमें भी जैसे किरणें दिखाई देतीं, तैजसपन नजर

आता उतना तो नेत्रमें आना चाहिए, सो बात नहीं है। इससे सिद्ध है कि नेत्र तैजस नहीं हैं। यहाँ शंकाकार कहता है कि आलोकके बिना भी तो दिखता है ना कुछ न कुछ। क्या दिखता है? अंधेरा दिखता हो तो प्रकाशके बिना अंधेरेका तो प्रतिभास होता है रात्रि में। तो कुछ न कुछ तो ज्ञानमें आया फिर प्रकाशकी आवश्यकताका आग्रह क्यों किया जा रहा? समाधान करते हैं कि देखो आप शंकाकार वैशेषिकोंके यहाँ अंधकार कोई चीज नहीं मानी गई, याने ज्ञानका अभाव होना यह ही अंधकार कहलाता है, फिर अन्धकारका दिखना थोड़े ही है। वह तो ज्ञानका अभाव है। हाँ जैनसिद्धान्तमें अवश्य अन्धकार भी पुद्गलकी पर्याय है और प्रकाश भी पुद्गलकी पर्याय है।

तो शंकाकार कहता है कि जैनोंने तो माना है अंधकारको पुद्गलकी पर्याय और उसको जान लिया, तो यों जानना कह लो। तो भाई जैसे यहाँ जैनोंके सिद्धान्तको बात कहकर तुम समर्थन करते हो तो सीधी यही क्यों नहीं जैन सिद्धान्तकी बात मान लेते कि चक्षु अप्राप्यकारी हैं और वे पदार्थोंको स्पष्ट जानते हैं और फिर शंकाकार जो यह कह रहा था कि चक्षु तैजस हैं और उसको अपना अतिशय बढ़ानेके लिए तैजस द्रव्यकी अपेक्षा रहती है, प्रकाश आदिककी अपेक्षा रहती है, सो यह कहना भी उचित यों नहीं है कि देखो आंखकी रोशनी बढ़ानेके लिए या देखनेकी शक्ति बढ़ानेके लिए अंजन लगाया जाता है तो अंजन तो तैजस नहीं है, कोई प्रकाशकी चीज तो नहीं है, तो इसमें अतैजस भी सहकारी हो जाता है। इसलिए यह भी नियम न बना कि आलोक भी तो तैजस माने गए हैं। हाँ उनमें तैजसपना अप्रकट है। कहते हैं कि यह बात भी गलत है, क्योंकि आंखोंसे देखनेमें चन्द्रमाकी किरणें भी सहकारी हैं, लेकिन चन्द्रको तो तैजस माना भी नहीं है। इससे व्यर्थके विशेष प्रलाप और प्रयास करना व्यर्थ है। सीधा-सादा सिद्धान्त है जैसा कि लोगोंको विदित है कि नेत्रमें किरणें नहीं होतीं और वह दूरसे ही जान लेता है और स्पष्ट ज्ञान होता है और इसी कारण चक्षुइन्द्रियके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता।

अनुद्भूतरूप एवं अनुद्भूतौष्ण्य चक्षुके तैजसत्वकी असिद्धि दूसरी बात यह है कि जो यह कहा जा रहा कि नेत्र हैं तो तैजस, मगर अप्रकट रूप वाले हैं, सो शंकाकारके सिद्धान्तमें दो बातें मानी गई हैं जो अग्निसे बनी हुई चीज है उसमें चमक और गर्मी दोनों होती हैं और यह भी कहते हैं कि किसी-किसी तैजसमें चमक प्रकट न हो तो उष्णता प्रकट है। जिसमें उष्णता प्रकट न हो तो चमक प्रकट है। किसीमें दोनों प्रकट हैं। जैसे दोनों जहाँ प्रकट हैं उसका दृष्टान्त दिया है दीपक और जहाँ चमक प्रकट नहीं वहाँ उष्णता प्रकट है। उसका दृष्टान्त है गर्म जल। शंकाकार नैयायिक व वैशेषिक जलमें अग्नि घुस गई ऐसा मानते हैं, तो वहाँ गर्म तो हो गया और रूप अप्रकट है और स्वर्णको तैजस मानते हैं तो उसमें रूप तो प्रकट है और गर्मी अप्रकट है। कैसे ही मानें, मगर नेत्रमें तो दोनों ही बातें प्रकट नहीं हैं। इस कारण तैजस नहीं हैं नेत्र। शंकाकार कहता है कि नेत्र तैज हैं, क्योंकि उष्ण वीर्यस्वभाव है उसका, याने नेत्रमें उष्णत्वकी शक्ति है तब ही तो नेत्रमें कोई जीव आ जाये तो वह मर जाता है, क्योंकि नेत्रमें गर्मीका स्वभाव है। कहते हैं कि यह बात कहना भी प्रलाप मात्र है। काली

मिर्च भी उष्ण वीर्य है। तो कोई खाता है उसमें उष्णता लाती है, तिक्त है, चर्परा है, पर तैजस तो नहीं है। और आंखें बन्द हो जाती हैं तो घबड़ाहटसे जीव मर जाता है तो आंखके अन्दर जाये पर इससे वे तैजस नहीं कहलातीं। ऐसे ही एक क्या अनेक दोष हैं।

मनोनियंत्रित होकर चक्षुरश्मियोंके काम करनेकी कल्पनामें तथ्यका घात शंकाकार यहाँ मानता है कि आंखसे किरणें तो निकलती हैं और उनपर मनका कब्जा रहता है, तो मनके नियंत्रणमें किरणें काम करती हैं। सो मन तो माना गया परमाणु बराबर शंकाकारके यहाँ, तो परमाणु बराबर मन ज्यादासे ज्यादा एक किरणपर नियंत्रण कर ले, पर सब किरणों पर कैसे नियंत्रण करता? और जब सब किरणोंपर नियंत्रण नहीं होता तो पर्वत जैसी बड़ी चीज क्यों एक साथ पूरी दिख जाती है?

शंकाकार कहता है कि बात यह है कि पर्वत है निरंश, अखण्ड, अवयवी, एक। सो एक किरणपर भी मनका नियंत्रण हो तो एक किरणसे भी देखा हो तो सारा दिख जाता है। यह कहना क्यों ठीक नहीं है कि फिर तो यह बतायें कि कमरेमें अगर भिन्न-भिन्न चीजें रखी हैं बहुतसी और उनका जो ज्ञान हो जाता है सो फिर वह कैसे होगा? क्योंकि वे चीजें अवयवी एक अखंड तो नहीं हैं। पचासों चीजें रखी हैं, जुदी-जुदी हैं। वहाँ कैसे मनका नियंत्रण बना लोगे? और भी सुनो यह मानते हैं शंकाकार कि आंखसे किरणें निकलती हैं और पदार्थको छूती हैं तब वे पदार्थ जाननेमें आते हैं। सो देखो जब कभी किसीको चन्द्रमा दिखता है तो बीचमें जैसे मान लो पेड़ रखा है और पेड़के बीचमें से वह चन्द्र दिख रहा है तो जब नेत्रसे किरणें निकलीं तो किरणोंके चलनेमें कुछ देर तो लगेगी। जैसे यहाँ रोशनीकी गतिमें देर लगती है, पर नेत्रकी किरणोंने पहले तो वृक्षको छुवा और अब चन्द्रमा कितनी दूर है? बहुत दूर। लेकिन देखने वालोंको दिखता है कि सब कुछ एक साथ देख लिया गया। तो एक साथ दिखता है। इससे मानना चाहिए कि किरणें नहीं हैं। नेत्रसे देखते हैं तो दूर हो, पास हो, सब कुछ एक साथ दिख जाता है।

छद्मस्थ ज्ञानके बहिरंग साधनभूत इन्द्रियोंकी विशेषतायें जब यह तथ्य है कि अन्य इन्द्रियकी भांति चक्षु भी एक पौद्गलिक इन्द्रिय है, भौतिक इन्द्रिय है और अन्य इन्द्रियमें तो यह बात है कि वे भिड़कर जानें, मगर चक्षुइन्द्रियमें यह बात नहीं कि भिड़कर जानें और इसीलिए कांच नहीं टूटता है, पर कांच पारदर्शी है, उसके पीछे रहने वाली चीजें भी दिख जाती हैं। उससे कोई बाधा नहीं आती। तो ये सारी बातें सही हैं। इसकी पहिचान है कि नेत्रमें किरणें नहीं हैं, न नेत्र प्राप्यकारी हैं। वे बिना छुवे ही जानने वाले हैं। तो स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि इन ५ इन्द्रियोंमें चक्षुइन्द्रिय तो है ऐसी कि बिना छुवे, बिना भिड़े पदार्थको जानती है। अन्य इन्द्रियोंमें अप्राप्यकारिता नहीं। कर्णइन्द्रियमें यह कला है कि वह बिना बांधे शब्दको जानती, मगर बिना छुवे नहीं जानती। याने कान शब्दोंको चबाता नहीं है, स्पर्श मात्रको जान लेता है, लेकिन घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शन ये पदार्थोंको छूकर व बांधकर जानते हैं। जैसे मुखसे न चबाया जाये तो रस नहीं ज्ञान होता, हाथसे न जोर दिया तो स्पर्श नहीं जाना जाता, पर नेत्र जो हैं वे बिना बंधे और बिना छुवेको ही जानते हैं।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि यदि नेत्र बिना छुवेको जानता है तो बहुत दूरकी चीज, सुमेरु पर्वत या बहुत पहलेकी चीज राम, रावण आदिक जो हुए उन सबको क्यों नहीं देख पाते, क्योंकि नेत्र बिना छुवे जानते। वे भी बिना छुवे हैं। इसके उत्तरमें यह पूछा जा रहा है कि शंकाकार यह बतायें कि घ्राणइन्द्रिय तो छूकर जानती है न? तो अनेक परमाणु घ्राण पर लोट रहे हैं, उनकी गंध क्यों नहीं जान लेते? यदि कहो कि ऐसी योग्यता है कि घ्राण स्थूल पदार्थको जाने, परमाणुओंकी गंधको न जाने तो यही बात आंखके सम्बंधमें कह लो कि आंख इतनी दूर रखी हुई चीजको ही जाने, इससे बहुत दूरका न जाने। यह तो नेत्रशक्ति पर आधारित बात है। तो जैसे घ्राणेन्द्रिय आदिकसे जाननेमें एक अदृष्ट को, शक्तिको बीचमें लाते हो, तो यही बात सब जगह है। जिस इन्द्रिय द्वारा जिस विधिसे जाननेकी बात होती है, ज्ञानावरणका क्षयोपशम होने पर उस इन्द्रियसे उस विधिसे जाना जा सकता है। इस प्रकार इस मतिज्ञानके भेदोंके प्रकरणमें मतिविशेषका जो वर्णन चल रहा है और उसकी सब विधियां बतायी जा रही हैं उसमें यह कहना बहुत युक्तिसंगत है कि अर्थावग्रह तो स्पष्ट पदार्थका होता है और व्यंजनावग्रह अव्यक्त पदार्थका होता है, और व्यंजनावग्रह आंख और मनसे उत्पन्न नहीं होता।

चक्षुको प्राप्यकारी सिद्ध करनेके लिये दिये गये भौतिकत्व हेतुकी अयुक्तता जो लोग चक्षुको अप्राप्यकारी मानते हैं उनका सिद्धान्त प्रत्यक्षसे बाधित है, अनुमानसे बाधित है और उनके आगमसे भी बाधित है। यह बात अब तक कही गई है। अब किसी अन्य हेतुओंका भी विचार करें तो वह भी दूषित ही बनेगा। जैसे कोई कहे कि चक्षु प्राप्यकारी है अर्थात् पदार्थको छूकर ही जानता, क्योंकि भौतिक होनेसे तो उनका यह हेतु सही नहीं है। क्या जो-जो भौतिक है वह प्राप्यकारी ही होता है? जैसे किसी प्रकार सानी या भुसके साथ सूई भी चली जाये गाय भैंसके पेट में, तो जानकार लोग क्या करते हैं कि उसके शरीरके ऊपर चुम्बक लोहा फेरते हैं और पेटमें रहने वाली सूई उसके अनुसार फिरती है और उस विधिसे उसे निकाल लेते हैं, तो भौतिक ही तो है चुम्बक, मगर प्राप्यकारी तो न रहा और फिर भी उसको ग्रहण करनेका साधन बना हुआ है। इस विषयमें और-और कल्पनायें करना केवल मनगढ़ंत बात है।

जैसे कोई कहे कि कोई इत्र या गंधकी चीज कहीं रखी है और उसे उठा लें तो भी वहाँ गंध रहती है। गंधके परमाणु फैल गए, ऐसे ही इस चुम्बकके परमाणु भी निकलकर पेटमें पहुंच गए और सूईको खींचने लगे तो ऐसी प्रत्यक्षविरुद्ध कल्पना केवल मनगढ़ंत ही है। किसीने भी चुम्बकके परमाणुओंको अलग होता हुआ देखा नहीं। वह ठोस पदार्थ है। फैलने वाली चीज नहीं होती। तो भौतिक है, ऐसा हेतु देकर चक्षुको प्राप्यकारी नहीं सिद्ध किया जा सकता। इसी तरह कोई कहे कि चक्षु जाननेका साधन है, इसलिए प्राप्यकारी है। जैसे कि अन्य-अन्य इन्द्रिय। तो जो साधन हो वह प्राप्यकारी ही हो, यह भली बात सिद्ध नहीं होती। जैसे मन साधन है जानने का, पर प्राप्यकारी नहीं, कोई वशीकरण, निर्विषीकरण आदिक मंत्र हैं, वे दूसरे में चिपटते तो नहीं हैं, प्राप्यकारी नहीं होते,

फिर भी काम होते हैं। जैसे सर्पने डस लिया, अब कोई मंत्रवादी मंत्र द्वारा सर्पका विषय उतार लेता, सर्पको भी बुला लेता तो कहीं वह सर्पके पास नहीं गया, न चिपटा, लेकिन निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा। सभी जगह प्रायः निमित्तनैमित्तिक योग देखा जा रहा है। सूर्यका प्रकाश फैल रहा तो क्या सूर्य अपने स्थानको छोड़कर यहाँ प्रकाश फैलाने आता है। निमित्तनैमित्तिक योग है ऐसा। तो ऐसे ही यह भी निमित्तनैमित्तिक योग है कि चक्षुइन्द्रियके व्यापारसे दूर रहने वाली चीजको बिना छुवे जान लिया जाता है। इस तरह चक्षुइन्द्रिय अप्राप्यकारी है और इसी कारण उससे स्पष्ट अर्थ जाना जाता है। व्यंजनावग्रहकी उत्पत्ति चक्षुइन्द्रियसे नहीं होती और इसी प्रकार मनसे भी व्यंजनावग्रह नहीं बनता।

घ्राणेन्द्रियकी तरह कर्णेन्द्रियमें भी प्राप्यकारिताकी सिद्धि होनेसे उपालम्भका अनवकाश अब यहाँ कोई शंकाकर कहता है कि जैसे चक्षुको अप्राप्यकारी कहते हो, इसी प्रकार कर्ण भी तो अप्राप्यकारी जंच रहा है। कर्ण भी कहाँ बाहर जाते हैं शब्दको सुननेके लिए। और व्यवहार भी देखा जाता है। लोग कहते हैं कि हम इतनी दूरके शब्द सुनते हैं तो शब्द भी कर्ण द्वारा बिना भिड़े जाने गए तो चक्षुकी तरह श्रोतको भी अप्राप्यकारी कहना चाहिए। समाधानमें कहते हैं कि यों तो गंधके विषयमें भी व्यवहार देखा जाता। मैं बहुत दूर तककी गंधकी गंध लेता हूँ, ऐसा लोग कहते भी हैं। तो ऐसे व्यवहारसे अगर अप्राप्यकारी मान लिया जाये तो घ्राणेन्द्रिय भी अप्राप्यकारी बन बैठेगी। मगर शंकाकार तो घ्राणेन्द्रियके विषयमें दृढ़तासे प्राप्यकारीपनकी बात करते हैं। तो गंधके विषयमें जो-जो भी समाधान देंगे शंकाकार, वही समाधान शब्दके विषयमें भी है। शंकाकार कहता है कि जिसमें तेज गंध है और उसकी वासना जिस-जिस साधनमें हो गई है या उससे जो-जो द्रव्य सम्बन्धित हो गया है, अब उस दूरपनेसे उसका ज्ञान होता है। हुआ तो भिड़कर। दूरसे गंध किसी औरमें आयी, उससे और पासमें आयी, इस तरहसे स्कंध घ्राणेन्द्रियमें गए, मगर लोग ऐसा समझते हैं कि उसकी गंध ले रहे हैं जो बहुत दूर रखा है। बस यही समाधान शब्दमें है। शब्द भी बोले जाते हैं तो उसका सम्बंध पाकर और निकटके भाषावर्गणा शब्दरूप बनते हैं और इस तरह बनते चले जाते हैं तब जो कर्णके विवरमें शब्द पहुंचा वह सुनाई देता है।

शंकाकार यदि यह कहे कि भींतादिकके व्यवधानमें कोई शब्द बोल रहा हो तो उस शब्दका ज्ञान हो जाता है। इससे सिद्ध है कि श्रोतइन्द्रिय अप्राप्यकारी है। तो बस यही समाधान गंधमें लगायें कि भींतादिकके व्यवधानमें कोई गंध वाली चीज रखी है और उसकी गंध आ जाती है, तो यों गंध ज्ञानके साधन घ्राणेन्द्रियको भी अप्राप्यकारी मान लें। इस तरह जैसे गंध एक पौद्गलिक पदार्थ है ऐसे ही शब्द भी पौद्गलिक पदार्थ है। यह छूकर भिड़कर जानती है। इस तरह जैसे गंधका ज्ञान प्राप्यकारी विधिसे होता है, ऐसे ही शब्दका ज्ञान भी प्राप्यकारी विधिसे होता है। और जैसे घ्राणेन्द्रिय प्राप्यकारी है, श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी है, स्पर्शन और रसना भी प्राप्यकारी है, इस विषयमें तो किसीको विवाद ही नहीं है। इस तरह इस सूत्रका अर्थ यह हुआ कि चक्षु और मनके द्वारा व्यंजनावग्रह नहीं होता, क्योंकि यह अप्राप्यकारी है और अप्राप्यकारी साधनसे जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट ज्ञान होता

है, व्यंजनावग्रहमें स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। अब मतिविशेषका वर्णन करनेके बाद श्रुतज्ञानका वर्णन करते हैं।

श्रुतं मतिपूर्वं द्वयनेकद्वादशभेदम् ॥ २० ॥

श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और उसके दो अनेक और १२ भेद होते हैं याने पहले तो दो भेद किए अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगबाह्यके अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्टके १२ भेद हैं। अंगप्रविष्टका अर्थ है जो अंगरूप श्रुत है। द्वादशांग श्रुत बोलते हैं, और द्वादशांग श्रुतके अतिरिक्त जो कुछ और बच जाता है वह अंगबाह्य कहलाता है। यहाँ एक जिज्ञासा हो सकती है कि अभी-अभी मतिज्ञानका प्ररूपण हुआ है, उसके बाद ही इस सूत्रके कहनेका प्रयोजन क्या है? तो उसका समाधान यह है कि यह बताना इस सूत्रका प्रयोजन है कि इस परोक्ष श्रुतज्ञानका निमित्त कारण क्या है और उस श्रुतज्ञानके भेद कितने हैं और उन भेदोंके भी भेद कितने हैं? इस सूत्रमें तीन बातोंका निर्णय किया गया है श्रुतज्ञान किस निमित्तसे होता है? श्रुतज्ञानके कितने भेद हैं और श्रुतज्ञानके भेदोंके भेद कितने हैं? और सब बतानेका कारण यह है कि कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि श्रुत याने आगम नित्य शब्दोंका निमित्त पाकर हुआ है। कोई मानते हैं कि पुण्यसे या भावनासे या आशीर्वादसे या ईश्वरके निमित्तसे आगमज्ञान होता है ऐसी अनेक धारणायें हैं। उनका समाधान देनेके लिए यह कहा है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। दूसरा प्रसंग यह है कि श्रुतज्ञानके दो भेद हैं। यह बात इसलिए कहनी पड़ी कि श्रुत याने आगमके विषयमें भी लोगोंकी अनेक भेदोंकी धारणा है। कोई कहते हैं कि चार भेद हैं ऋजुवेद आदिक, कोई कहते हैं कि उनके ६ अंग हैं शिक्षा व्याकरणादिक, कोई तीन वेद और तीन उपवेद कहकर ६ वेद मानते हैं। कोई उस आगमके दो भाग मानते हैं (१) ब्राह्मणभाग और (२) यंत्रभाग। कोई भेद ही नहीं मानते। एक ही ब्रह्मा प्रतिपादक मानते हैं, आदिक अनेक प्रकारके विचार हैं। उनका समाधान करनेके लिए बताया गया है कि श्रुतज्ञानके दो भेद हैं और फिर उन भेदोंके भी भेद बताये हैं कि अंग बाह्यके अनेक भेद हैं और अंग प्रकृष्टके १० भेद हैं। इस तरह तीन बातोंका विवरण इस सूत्रमें किया है कि श्रुतज्ञान किस निमित्तसे होता है और श्रुतज्ञानके भेद कितने हैं तथा उन भेदोंके भेद कितने हैं?

अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि श्रुत क्या चीज है? क्योंकि श्रुतके तो अनेक अर्थ हैं शास्त्र, अर्थ, सुने गए शब्द। तो यहाँ श्रुतज्ञानका क्या अर्थ है? तो श्रुतका अर्थ समझनेके लिए इसके प्रसंगकी बात जाननी होगी। प्रसंग चल रहा है कि वस्तुके स्वरूपका अधिगम किन उपायोंसे होता है? तो सूत्र कहा गया था कि प्रमाण और नयोंसे पदार्थका अधिगम होता है। तो प्रमाण क्या है? उसका ही विवरण चल रहा है। प्रमाण ५ बताये गए मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान। तो चूंकि ज्ञानका प्रमाण है, ज्ञानकी अनवृत्ति है इससे श्रुतका अर्थ हुआ श्रुतज्ञान, न कि केवल सुने गए शब्द मात्र। शब्द सुनकर जो ज्ञान किया जाता है वह है श्रुतज्ञान। तब एक जिज्ञासा और हो जाती है कि श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान किया गया है, तो शब्दात्मक श्रुत कैसे सिद्ध हो सकेगा?

समाधान यह है कि मुख्य प्रसंग तो श्रुतज्ञानका ही है और श्रुतज्ञान ही अर्थ है, मगर उपचारसे शब्द भी श्रुत कहलाता है। सूत्रमें श्रुत शब्द दिया है, सो उसका मुख्यरूपसे तो श्रुतज्ञान अर्थ है और उपचारसे वह शब्दादिक श्रुत है, इसका भी ग्रहण करना चाहिए। और शब्दोंके भेदके आधार पर दो भेद, अनेक भेद, १२ भेद कहे गए हैं। सो केवल शब्दका ही भेद नहीं है वहाँ, किन्तु उसके वाच्य अर्थका भी विभाग है। इस तरह श्रुतका अर्थ श्रुतज्ञान है और उपचारसे वह समस्त आगम है। श्रुत शब्द श्रु धातुसे बना है जिसका अर्थ श्रवण है, सुनना है। उस श्रु धातुमें क्त् प्रत्यय लग गया है और उससे श्रुत शब्द बना है। यहाँ श्रुत शब्दको भी उपचारसे ग्रहण किया गया है। उसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानका कारण शब्द है। जो प्रवचन है, आगम है वह श्रुतज्ञानका कारण शब्द है। वह प्रवचन दो भेद वाला है अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगप्रविष्टमें १२ अंग आते हैं (१) आचारांग, (२) सूत्रकृतांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्याप्रज्ञप्ति, (६) ज्ञातृकथा, (७) उपासकाध्ययन, (८) अंतःकृतदशांग, (९) अनुत्तरोपपादिकदशांग, (१०) प्रश्नव्याकरणांग, (११) विपाकसूत्रांग और (१२) दृष्टिवादांग।

ये १२ अंग हैं और इनसे अतिरिक्त सामायिक, चतुर्विंशति, स्तवन, वंदना, प्रतिक्रमण आदिक ये सब अंगबाह्य हैं। यहाँ जैसे श्रुतज्ञान पूज्य है वैसे ही श्रुतज्ञानका एक आधारभूत यह शब्द श्रुत भी पूज्य कहा जाता है। यह सम्यग्ज्ञानका अधिकार है, इस कारण केवल सम्यक् श्रुतज्ञानका ही ग्रहण है और सम्यग्ज्ञानके ५ भेद बताये गए। उनमेंसे यह द्वितीय ज्ञान है और परोक्षज्ञान है।

“श्रुतमतिपूर्वद्वनेनद्वादशभेदं” इस सूत्रमें कहा जा रहा है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। इतने शब्दमें क्या-क्या तथ्य डाले हैं? एक तो यह बतायें कि श्रुत दो प्रकारका होता है (१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। जो ज्ञानरूप है वह तो भावश्रुत है और जो अक्षरोंरूप है, शास्त्रोंमें लिखित है या भगवानकी दिव्यध्वनि खिरी है वह सब द्रव्यश्रुत है। तो द्रव्यश्रुत भी नित्य नहीं और भावश्रुत भी नित्य नहीं। द्रव्यश्रुत तो शब्दरूप है। शब्द नित्य नहीं होते याने सदा वहीका वही रहे, ऐसा नहीं होता। जैसे हम आप बोलते हैं तो शब्द बोला और वे शब्द मिट गए, और भावश्रुत ज्ञानकी परिणति है। तो जो ज्ञानकी अवस्था है वह उसी समयसे है, अगले समय नहीं है। तो इस तरह न तो द्रव्यश्रुत नित्य है और न भावश्रुत नित्य है, ये दो बातें इस सूत्रमें कहे गए शब्दोंसे झलकती हैं। इसके अतिरिक्त तीसरी बात यह स्पष्ट होती है कि श्रुत किसी नित्य पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न नहीं होता, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं कि व्यापक कूटस्थ है, शब्दोंके निमित्तसे उत्पन्न होता है, सो श्रुतका जो निमित्त है वह भी अनित्य और श्रुतमतिपूर्व इतने ही शब्दसे चौथी बात यह ध्वनित होता है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है याने पहले मतिज्ञान हो, उसके बाद श्रुतज्ञान हो, अवधिज्ञानपूर्वक न होगा, अन्य ज्ञानपूर्वक न होगा।

अब यहाँ कोई शंका करता है कि कोई-कोई श्रुतज्ञान ऐसे भी देखे गए हैं कि श्रुतज्ञानके बाद ही श्रुतज्ञान हो जाये याने मतिज्ञानसे हुआ श्रुतज्ञान और उस मतिज्ञानसे और श्रुतज्ञान हो जाय। जैसे धुवाँ दीखा और उससे अग्निका ज्ञान किया, दूसरेको समझाया तो वह श्रुतज्ञान बन गया। फिर उस

अग्निकी और भी विशेषतायें कहीं। तो ऐसे श्रुतपूर्वक भी श्रुत हुआ करता है। जैसे किसी पुरुषके द्वारा धूम शब्द सुना तो सुन करके झट यह जान गया कि जहाँ धुवाँ होता है वहाँ अग्नि होती है। तो पहले तो कानोंसे सुना तो मतिज्ञान फिर इसने धुवां कहा, ऐसा समझना श्रुतज्ञान, फिर उसके बाद और-और तर्क उठाना, अग्निका अनुमान कराना, तर्कज्ञान करना और वितर्क करना, ये तो श्रुतज्ञानसे भी श्रुतज्ञान बना करते हैं। फिर यह कहना कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है इसमें तो विरोध आया।

इसके समाधानमें कहते हैं कि श्रुतमतिपूर्वका यह अर्थ है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। अब सापेक्ष हो या परम्परा हो। जैसे कोई कहता है कि मेरठसे मुजफ्फर नगर उत्तरमें है तो मेरठके बाद तो बीचमें अनेक गांव पड़ते हैं, फिर कैसे कह दिया कि मेरठसे मुजफ्फरनगर उत्तरमें है? तो भले ही पड़ें, मगर ऐसा व्यवहार देखा जाता। बीचके गांवोंका नाम नहीं लेते। तो ऐसे ही श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है तो चाहे कितना भी श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हुआ हो, लेकिन पहले श्रुतज्ञान अवश्य मतिज्ञानपूर्वक हुआ है। इससे श्रुतमतिपूर्वमें जो चार अर्थ ध्वनित हुए हैं वे सही हैं।

अब शंकाकार कहता है कि श्रुत तो केवलज्ञानपूर्वक भी होता है याने केवली भगवान केवल ज्ञानसे जानते हैं और फिर उनकी दिव्यध्वनि खिरती है। तो जो दिव्यध्वनि है वह तो श्रुत है और वह हुआ केवलज्ञानपूर्वक तो फिर यह कहना कैसे बने कि श्रुतमतिपूर्वक होता है? इसके समाधानमें कहते हैं कि जो भगवानकी दिव्यध्वनि खिरी वह श्रुत तो है, पर श्रुतज्ञान नहीं है। श्रुतज्ञान तो छन्दस्थ जीवोंके होता है। भगवानके तो केवलज्ञान है और वहाँ ज्ञानका प्रकरण है इसलिए श्रुत शब्दसे यहाँ कोरा श्रुत न लेना, किन्तु श्रुतज्ञान लेना और वह श्रुतज्ञान केवलज्ञानपूर्वक नहीं होता। केवलीके श्रुतज्ञान ही नहीं है, फिर केवलज्ञानपूर्वक हुआ श्रुतज्ञान, यह शंका ही नहीं हो सकती। इस तरह श्रुतमतिपूर्व इस शब्दसे जो चार बातें ध्वनित हुईं वे युक्तिसंगत हैं। पहली बात यह है कि श्रुत नित्य नहीं है। न तो द्रव्यश्रुत नित्य है, न भावश्रुत नित्य है। तीसरी बात किसी भी धर्मके निमित्तसे नहीं होता श्रुत, चौथी बात श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक ही होता है। चाहे श्रुतसे श्रुत हो जाये, मगर पहले जो श्रुत हुआ वह मतिज्ञानपूर्वक ही होगा। इस तरह परोक्षज्ञानके प्रमाणमें मतिज्ञानके वर्णनके बाद श्रुतज्ञानकी बात कही गई है। अब यहाँ एक बात और विशेष समझनी है कि श्रुतज्ञानकी जो उत्पत्ति होती है सो शब्द सुननेके बाद ही होती है, सो बात नहीं। किसी भी इन्द्रियसे कुछ भी ज्ञान करनेके बाद श्रुतज्ञान हो सकता है। यद्यपि श्रुत शब्दमें श्रुत पड़ा है और उसका अर्थ है शब्द सुनना और उससे यह प्रकट होता है कि शब्द सुननेके बाद श्रुतज्ञान जगता है। सो सीधा लगता तो है ऐसा कि श्रोत्र द्वारा शब्द सुनकर जो मतिज्ञान बना उस मतिज्ञानपूर्वक श्रुत होता है, लेकिन यथार्थता यह है कि चाहे स्पर्शन इन्द्रियको छूकर मतिज्ञानके बाद श्रुत बन जाय। जैसे कोई चीज छुई जाती, अब उसके ठंडे गर्मके विषयमें और बातें समझना कैसे बना है आदिक, तो देखो स्पर्शन इन्द्रियके मतिज्ञानके बाद श्रुतज्ञान हुआ ना? इसी तरह शेष इन्द्रियोंसे जो मतिज्ञान होता है, चक्षुइन्द्रियसे कोई चीज दिखनेके बाद भी श्रुतज्ञान हो सकता। श्रुतज्ञान कहते हैं कि उसे भी मतिज्ञानसे जानकर फिर

अन्य बातको समझना यह श्रुतज्ञान है। सो होता तो है ५ इन्द्रिय और मनपूर्वक मतिज्ञान से, किन्तु प्रसिद्धि शब्दसे है, क्योंकि आगम शास्त्र, उपदेश इनमें शब्द ही तो हैं। और यहाँ एक विशिष्ट श्रुतज्ञानकी बात चल रही है, शास्त्रज्ञानकी बात। तो प्रधानता तो श्रोत्र मतिपूर्वक श्रुत है, यह बन सकता है, किन्तु नियम नहीं बन सकता, किसी भी मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान हो सकता है।

अब यहाँ कोई शंका करता है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदिक भी तो श्रुतज्ञानमें शामिल होना चाहिए, क्योंकि उसमें विचार होता है। स्मरण किया किसीका तो मनसे कुछ जाना, तो उसमें विचार बनता है, तर्कणा बनती है, इसलिए वह श्रुतज्ञान ही कहलायगा। कहते हैं कि नहीं, श्रुतज्ञान सभी मतिपूर्वक होते हैं। भले ही किसी श्रुतसे श्रुतज्ञान बन जाये, पर वह तो मतिपूर्वक है, किन्तु स्मरणआदिक तो सब मतिज्ञान बनते हैं याने मनके द्वारा सीधा पदार्थका स्मरण हो गया। अब उस स्मरणके बाद फिर अन्य बात विचारी जाये तो वह श्रुतज्ञान होगा। दूसरी बात यह भी समझें कि श्रुतज्ञान उत्पन्न होनेका अन्तरंग निमित्त श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम है। भले ही अन्य-अन्य ज्ञानमें श्रुतज्ञानके सहयोगी निमित्त बन जायें, लेकिन अन्तरंग निमित्त तो श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम है। वह क्षयोपशम स्मृति आदिकमें नहीं है, इस कारण स्मरण आदिक श्रुतज्ञान नहीं कहलाते, किन्तु मतिज्ञान ही कहलाता है। इससे यह बात समझनी चाहिए कि जो ज्ञान मतिज्ञानपूर्वक हो, जिसमें अस्पष्ट तर्कणायें उठें, जो स्वसम्बेदनसे निराला हो उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। ऐसा यह श्रुतज्ञान दो भेद वाला है और अंगबाह्य, अंगप्रविष्ट, और अंगबाह्य अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्टके १२ भेद हैं। इन भेद-प्रभेदोंमें भी मुख्यता श्रुतज्ञानकी है और गौणता इन शब्दोंकी है। शब्दके भेद हैं ये, यह तो गौण अर्थ है और ज्ञानके भेद हैं ये, यह उसका मुख्य अर्थ है।

अब यहाँ कोई दार्शनिक शंका करता है कि ठीक कह रहे हो कि श्रुतज्ञान शब्द ज्ञानपूर्वक होता है, पर वे सब शब्द नित्य हैं, और नित्य शब्दमें ही यह आगम बनता है। उनका यह कहना यों युक्तिसंगत नहीं कि कहीं अचेतनसे चेतन बनता है? शब्द तो अचेतन हैं, उनमें ज्ञान नहीं है। तो अज्ञानपूर्वक कहीं श्रुतज्ञान बनेगा, और फिर जैसे कुछ भी शब्द बोले जाते हैं अपौरुषेय वेद मानने वालोंके यहाँ जैसे अग्नि नीले आदिक। याने मैं अग्निको पूजता हूँ तो इसमें ज्ञान ही तो बना। ज्ञानसे ही तो सब कुछ जाना जा रहा है। शब्दसे तो ज्ञान नहीं उठा, बल्कि ज्ञानने शब्दको समझा, इसलिए शब्दोंसे आगमके ज्ञानकी उत्पत्ति हुई यह न कहना, किन्तु ज्ञानसे भी ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और इस तरह श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है, यह भली-भाँति समझे हुए हैं। श्रुत दो प्रकारका कहा गया है (१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। द्रव्यश्रुतका अर्थ है आगमोक्त शब्दोंका समूह और भावश्रुतका अर्थ है उनको सुनकर, बांधकर उनके अर्थका ज्ञान करना। इस प्रसंगमें एक दार्शनिक यह कहता है कि श्रुतको मतिपूर्वक कहा है, सो यह बात सही नहीं जंच रही, श्रुत आगम तो शब्दजन्य है और शब्द नित्य है। इस विषयमें बताया गया था कि यह प्रतीतिविरुद्ध है। जो भी शब्द बोले जाते हैं उन शब्दोंका ज्ञानपूर्वक वेदन होता है। शब्दसे ज्ञान प्रकट होता है, यह न होकर ज्ञानसे शब्दका बोध

होता है, क्योंकि सब कुछ ज्ञानपूर्वक ही है। रचना व्यवहार सब ज्ञानपूर्वक ही होता है, इसलिए शब्द कही, श्रुत कही, वह ज्ञानपूर्वक होता है, मतिपूर्वक होता है। यहाँ शंकाकार यह कहता है कि शब्दकी उत्पत्ति तो नहीं होती, पर शब्दकी अभिव्यक्तिके लिए ज्ञान पहले हुआ करता है। शब्द तो नित्य है, पड़ा हुआ है, एक है, व्यापक है, उसकी अभिव्यक्ति होती है। जैसे कोई पदार्थ पहलेसे पड़ा है और ऊपर कपड़ा डाल दिया तो कपड़ा उधाड़नेसे उस पदार्थकी अभिव्यक्ति होती है। जिसके समाधानमें कहते हैं कि शब्दकी अभिव्यक्तिसे ही सही, पर यह बताओ कि शब्दकी अभिव्यक्ति क्या शब्दसे न्यारी चीज है? वह भी तो शब्दस्वरूप है। अगर शब्दकी प्रकटता शब्दसे न्यारी चीज है तो यह शब्दकी अभिव्यक्ति है, ऐसा न कहा जायेगा। उस अभिव्यक्तिको जिस चाहेका कह दिया जाये। अगर कही कि उसमें सम्बन्ध है तो बस वही एक स्वभाव है, वही एकता है।

अथवा और समझो जो यह कहते हैं कि शब्दकी अभिव्यक्ति होती है तो उस अभिव्यक्तिका अर्थ क्या हुआ? जैसे कि बर्तन मलीन पड़ा है और उसे रेतादिकसे रगड़ दिया जाये तो उसमें उज्वलता प्रकट होती है। तो उस उज्वलताकी अभिव्यक्ति क्या है? संस्कार। तो इसी प्रकार जो स्वर व्यंजन शब्दोंकी अभिव्यक्ति कहते हैं तो उसका अर्थ क्या है? संस्कार। तो संस्कार किसका किया गया? उस अक्षरका संस्कार हुआ या श्रोत्रेन्द्रियका संस्कार हुआ या उस शब्दके ज्ञानके आवरणका विनाश हो जाना, इसका नाम संस्कार है। संस्कारका क्या अर्थ है? संस्कार तो वही रगड़नेसे होता। जैसे बर्तनोंको रगड़के हो जाता, कुछ संस्कार नई चीज जलनेसे होता। जैसे भोज्य पदार्थोंमें मसालोंका छोंक दे दिया तो वे सुनासित हो गए, या कोई अतिशय कर दिया जाये तो संस्कार है। या उन शब्दोंको रोकने वाली या शब्दावरणका क्षयोपशम क्षय विनाश हो गया वही संस्कार हो गया। इनमेंसे कोई भी विकल्प युक्तिसंगत नहीं बनता। वर्णनका संस्कार क्या? कोई शब्द है, जिसको कोई रगड़ता है या कानमें रगड़ता है या दोनों रगड़े जाते हैं। हाँ शब्दज्ञान होता है ज्ञानावरणके विनाश से, सो ठीक ही है। श्रुतज्ञान जो होता है वह श्रुतज्ञानावरणके विनाशसे होता है। तो यह कहना उचित नहीं कि शब्दसे ज्ञान बना या शब्द ही अपौरुषेय आगम है। अरे श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है। शब्द किसी ज्ञानपूर्वक होता है और शब्द सुनकर किसी अन्य ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। वास्तविक तो बात यह है कि प्रत्येक पदार्थकी उत्पत्ति अपने-अपने उपादानसे होती है। ज्ञानका उद्भव ज्ञान योग्यतासे हुआ, जीव उपादानमें हुआ, शब्दकी उत्पत्ति भाषावर्गणाके स्कंधोंमें हुई। नित्य शब्दको मानने वाले जरा यह बतायें कि जब शब्द नित्य है, व्यापी है, एक है तो जब उसको अभिव्यक्ति होती है तो समस्त काल और समस्त लोकमें रहने वाले शब्दोंका एक साथ उद्भव हो जाना चाहिए, क्योंकि शब्द एक है।

यदि शंकाकार यह कहे कि कहीं भी शब्दकी अभिव्यक्ति हो, हो तो जाती है पूरे लोक में, पर जिन जीवोंका जितना भाग्य है, जैसी दृष्टि है उसके अनुसार उतना समझमें आता है। ऐसा कहने वाले दार्शनिक कुछ और आगे क्यों नहीं बढ़ते जाते? सारे जगतको ही शब्दात्मक मान लें और कह

दें कि है तो सारा जगत शब्दात्मक, पर जिन जीवोंका जैसा भाग्य है, अदृष्ट है उसके अनुसार उनकी चीजें दिखती हैं। तो यह कोई उत्तर नहीं है। यदि कहें कि उस शब्दकी एक जगह व्यक्ति होती तब तो शब्द एक न रहा, अनेक शब्द हो गए और उनको प्रकट करने वाले साधन भी अनेक हैं। इससे सीधा मानना चाहिए कि जैसे और-और पुद्गल स्कंध हैं, इसी प्रकार भाषावर्णनाके भी पुद्गल स्कंध हैं और उपादान निमित्त योगवश अनुकूल शब्दोंकी उत्पत्ति हो जाती है, वह शब्द अवस्था है और अनित्य है। उन शब्दोंके संग्रहसे बना हुआ द्रव्यश्रुत है, यह भी नित्य नहीं है और द्रव्यश्रुतको जानकर फिर जो अनेक अर्थ समझे जाते हैं वे भावश्रुत हैं। यह भी ज्ञानकी पर्याय है।

शंकाकार कहता है कि वचन जो बोले जाते हैं वे दूसरोंको समझानेके लिए, सो शब्द तो वहीं हैं, पर समझानेके समय उनकी व्यक्ति होती है। शब्द किसीने बनाया नहीं, और यों आगम भी किसीने बनाया नहीं। तो जो वचनका उच्चारण होता है और वह दूसरेके ज्ञानोंका निमित्त कारण बन जाता है, सो इस पद्धतिके कारण लोगोंको भ्रम हो गया कि शब्द उत्पन्न होते हैं, और यही कारण है, चूंकि शब्द नित्य हैं, आगम नित्य है, इस वजहसे अपौरुषेय आगम का, वेदका कोई कर्ताका स्मरण नहीं हो पाता।

दूसरी बात है कि यदि कहा जाये कि सभी लोग अपने-अपने आगमके कर्ता मानते हैं, उनका स्मरण होता है तो अपौरुषेय वेदके कर्ताओंका स्मरण किया जाता है। तो शंकाकार कहता है कि जब वेदोंका कोई एक कर्ता नहीं ख्यालमें आता, लोग अनेक कर्तारूपसे स्मरण करते तो इससे सिद्ध है कि कर्ता नहीं है। समाधानमें कहते हैं कि भाई जो वेद हैं, जिसे अपौरुषेय कह रहे हो उनके अनेक खण्ड हैं, अनेक विभाग हैं। किसी खण्डको किसीने बनाया, किसीको किसी ने, इसलिए अनेक कर्ताओंका स्मरण किया जाता है और फिर जो रचना है, नवीनता है जिसमें, उसे कर्ताका स्मरण न होनेसे अपौरुषेय कह दिया जाये। अनेक पुराने टूटे कुवें हैं, टूटे-फूटे महल हैं, जिनके कर्ताका स्मरण भी नहीं होता कि किसने बनाया, तो क्या वे सब भी अपौरुषेय बन जायेंगे? इसलिए आगम हैं। जो सर्वज्ञ हैं, विशेषज्ञ हैं उन्होंने वस्तुके स्वरूपको जाना और शब्दों द्वारा उस वस्तुस्वरूपके विज्ञानको एक ग्रंथमें निबद्ध किया। वह भी आगम है और उनसे लोग अपनी कल्पनाका लाभ उठाते हैं, क्योंकि जो वीतराग सर्वज्ञकी परम्परामें रचित शास्त्र हैं उनमें चूंकि सर्वज्ञता मिल गई है, इसलिए और वीतरागतामूलक हैं, इस कारण कहीं चूक नहीं हो सकती। वे गलत नहीं हो सकते। वही श्रुत है, उसका ज्ञान होना भावश्रुत है, और जो शब्दरचना है वह द्रव्यश्रुत कहलाती है। श्रुतआगम कौनसा प्रमाण है? यह तो एक इस कुंजीसे जाना जा सकता है कि जो वस्तुसे यथार्थस्वरूपको बताये और वैराग्यकी ओर ले जाये, ऐसा आगम प्रमाणभूत है। अब इसकी परीक्षा ज्ञानी जन अपने-अपने ज्ञानबलसे कर सकते हैं।

स्पष्ट बात तो यह है कि पदार्थ सब द्रव्यपर्यायात्मक हैं याने वे हैं, सदा रहेंगे और प्रतिसमय उनकी अवस्था बनती रहती है। तो चूंकि वह द्रव्यरूप है इसलिए नित्य है, पर्यायरूप है इस कारण

अनित्य है। इसी कारण एक अनेक रूप है। ऐसे ही स्याद्वाद द्वारा वस्तुके स्वरूपको जानकर फल यह लूटना चाहिए कि समग्र वस्तु में जान लें और प्रत्येक वस्तु एक दूसरेसे अत्यन्त पृथक् है। सभी वस्तुएं मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। सबका परिणामन अपने आपके उपादानसे है। ऐसे सबसे विविक्त निज आत्मस्वरूपमें भावना बनायें, यही वैराग्यका मूल है। यह कुंजी जहाँ मिले वही वीतराग सर्वज्ञकी परम्पराका कहा हुआ आगम है।

अब यहाँ उक्त मीमांसाके सम्बंधमें एक बात और पूछी जा सकती है कि यह कहा है शंकाकारने कि शब्दकी पीछे योजना लगती है वह ज्ञान श्रुत हो जाता है। तो शब्दकी योजना कर देनेसे श्रुत ही होता है या शब्दकी योजनासे ही श्रुत होता है? क्या मतलब है? अगर कहो कि शब्दकी योजनासे श्रुत ही होता है तो ठीक है। शब्दकी योजना करनेके पश्चात् जो वाच्य अर्थका ज्ञान होता वही तो श्रुतज्ञान कहलाता है। यदि यह कहो कि शब्दकी योजनासे ही श्रुत होता है तो इसके मायने यह हुए कि शब्दकी योजनासे ही श्रुतज्ञानको श्रुत कहा, तब तो कर्णसे जो शब्द सुने जाते, उससे जो ज्ञान होता वह तो मतिज्ञान है, फिर वह न हो पायेगा क्या? शंकाकार कहता है कि भाई दुनियामें ऐसा कोई ज्ञान नहीं है कि जो शब्दसे बींधा हुआ न हो। याने शब्द योजना बिना ज्ञान हो जाये, ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जैसे हम किसी चीजको देखते हैं तो कोई न कोई शब्द मनमें आते हैं, यह कहना अयोग्य है। इन्द्रिय द्वारा स्पर्श, रस, गंध आदिकका अनुभव होता। वहाँ शब्दयोजना कहाँ चलती है? एकेन्द्रिय, दोइन्द्रियका ज्ञान होता, वे क्या शब्दयोजना कर पाते हैं? ज्ञान ज्ञान है। कोई ज्ञान शब्दयोजनासे ही होता है, कोई ज्ञान शब्दयोजनाके बिना भी होता। तो ऐसे ये सभी ज्ञान हैं। शब्दयोजना केवल मति स्मृति बिना बहुत ज्ञान है। शब्दयोजना करे कि यह श्रुतज्ञान बन गया। तो यह एकान्त करना कि जितने भी ज्ञान होते हैं वे सब योजनासहित होते हैं, अयुक्त बात है। इन्द्रिय मनसे बहुत-बहुत ज्ञान होते। सभी शब्द सहित कहाँ होते? स्वयं शंकाकार मानते हैं कि वाणी तीन तरह की होती है (१) बैखिरी, (२) मध्यमा और (३) पश्यन्ती। तो शंकाकार स्वयं जानता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान तो बैखिरी और मध्यमा वाणीके बिना हो जाता है। हाँ, केवल एक पश्यन्ती वाणीके बिना ज्ञान नहीं मानते, सो यह कहना भी उनका असंगत है, जिसे वे शब्दानुविद्ध कहते हैं, उसका अर्थ करना चाहिए सविकल्प। ज्ञान कुछ विशेष निर्णयको लिए हुए ही तो होता है। इन वाणियोंका अर्थ कहा है कि बैखिरी वाणी, तो एक मोटे शब्द सुने, जो इन्द्रियसे सुननेमें आये वह बैखिरी वाणी है और मध्यमा वाणीका अर्थ कहते हैं अन्तर्जल्प, सो इससे अगर बींधा हुआ ज्ञान कहें तो ज्ञान हो तो वाणी जानी जाये और वाणी हो तो ज्ञान जाना जाये, इतरेतराश्रय दोष होगा।

शंकाकार कहता है कि शब्द तो ज्योतिस्वरूप है, परम देवता है, सबके अन्तरंगमें वह प्रकाश रहा है और उसी वाणीसे सबका ज्ञान चल रहा है। उसके बिना न वाणी होती, न ज्ञान होता तो सब कुछ व्यवहार वाणीका बनता, यह सब पश्यन्ती वाणीसे होता है। पश्यन्ती एक सूक्ष्म वाणी है। शब्द ज्योति है वह सब कुछ बनता है। ऐसा कहने वाले भी युक्तिसिद्ध बात नहीं कहते। पश्यन्ती वाणी

मायने शब्ददेवता, शब्दब्रह्म । जो निरंश है उसे तो बोला ही नहीं जा सकता और उसकी कोई अवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि शब्दब्रह्मकी बताओ वे सारी अवस्थायें क्या सत्य हैं? अगर सत्य हैं तो केवल एक निर्विभाग शब्दब्रह्म ही तो न रहा, और अगर कहो कि असत्य हैं तब आगम भी न बन सकेगा । इस कारण भाषावर्गणाके स्कंधमें ये शब्द निकलते हैं, उनकी उत्पत्ति कंठ तालू आदिकसे होती है, उनसे आगम रचना होती है । ज्ञानानुरूप उन शब्दोंका संचय होता है, वही श्रुत है, आगम है, वह अनित्य और उसका ज्ञान करना भी अनित्य है, पर इस अनित्यके प्रयोगके सहारे जीव अपने कल्याणका लाभ पाते हैं ।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानस्वरूप आत्माका अनुजीवी धर्म है । जबसे आत्मा है तब ही से यह स्वरूप है । आत्मा अनादि अनन्त है, यह सहज ज्ञानस्वरूप भी अनादिअनन्त है । प्रत्येक पदार्थ निरन्तर परिणमता रहता है । यह आत्मा भी निरन्तर परिणमता रहता है । आत्माका ज्ञानस्वरूप भी निरन्तर अवस्थाओंरूपमें परिणमता रहता है । तो यह ज्ञान किस-किस प्रकारसे अपनी अवस्थायें बनाता है? उसका यहाँ प्रकरण चल रहा है, क्योंकि पदार्थोंके स्वरूपका अधिगम ज्ञान द्वारा ही होता है अर्थात् ज्ञानकी व्यक्तियों द्वारा होता है, तो वे ज्ञानव्यक्तियां अर्थात् ज्ञानकी अवस्थायें किस-किस प्रकारकी होती हैं? इस प्रकरणमें यहाँ यह बताया जा रहा है कि मति श्रुत आदिक ५ ज्ञानोंमें से दो आदिकके ज्ञान परोक्ष हैं । उनमें मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है, ऐसी बात जिन्होंने पायी, प्रायः वे छन्दस्थ हैं, उनकी बात कही जा रही है । श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है । मतिज्ञानसे तो रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द जाने गए हैं और उस मतिज्ञानके बाद जो अर्थान्तरका बोध किया जाता है वह श्रुतज्ञान है । यह श्रुतज्ञान होता तो है ५ प्रकारके इन्द्रियजन्य मतिज्ञान एवं मानसिक ज्ञानके बाद, किन्तु उनमें शब्दप्रत्यक्षके बाद जब बहुसा हुआ करता है, इस कारण इसका नाम श्रुतज्ञान रखा है, अर्थात् शब्द सुनकर जो अर्थान्तरका बोध होता है वह श्रुतज्ञान है । तो श्रुत शब्द यहाँ उपलक्षण है याने केवल शब्द सुननेके बाद ही श्रुतज्ञान हो, ऐसा नहीं है, पर मुख्यता इसकी अवश्य है । इसी कारणसे इसका नाम उपलक्षण करके रखा गया है ।

इसके विरोधमें शंकाकार यह कहता है कि श्रुत तो आगमका नाम है और वह आगम अपौरुषेय है, किसीके द्वारा बनाया नहीं गया । जो उनमें शब्द हैं वे बोले देखे जाते हैं वह शब्दकी पर्याय है । शब्दब्रह्म नित्य है, निरंश है, इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षसे अतीत है और अनुमान स्वसम्वेदन आगम सभीसे अतीत है । वह तो एक शब्दब्रह्मकी पर्याय है । उससे आगमका ज्ञान होता है । ऐसा कहने वाले इस बातको किसी भी तरह सिद्ध नहीं कर सकते । जब इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षका विषय ही नहीं है अथवा अनुमान स्वसम्वेदन आगम प्रमाण किसीसे भी प्रसिद्ध नहीं होता तो उनका अस्तित्व कैसे समझा जाये? शब्दाद्वैतवादी सभी बातोंको अप्रमाण कहते हैं ।

केवल एक शब्दब्रह्म ही सत्य है और उस शब्दब्रह्मके जो चार प्रकार हैं बैखिरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा, इनमेंसे जो सूक्ष्मा वाणी है अर्थात् शब्दज्योति, वह तो शब्दब्रह्मका स्वरूप है ।

बाकी तीन अवस्थायें हैं। इस प्रकार कहने वाले शंकाकार इस तरहसे मानें कि जो शब्द हैं, वे चार प्रकारोंमें विभक्त हैं और वे चार प्रकार दो प्रकारोंके अन्तर्गत हैं द्रव्यवचन और भाववचन। द्रव्यवचनके तो दो रूप हैं बैखिरी और मध्यमा और भाववचनके दो रूप हैं पश्यन्ती और सूक्ष्मा। द्रव्यवचन कहलाते हैं ये शब्दवर्गणा व्यंजन, स्वर आदिक जो बोले जाते हैं सो ये चूंकि श्रोत्रइन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं, इस कारण ये दोनों द्रव्यवचन हैं, और भाववचन कहे जाते हैं ज्ञानरूप। उनमें पश्यन्ती तो विकल्प रूप है। जो कुछ शब्दोंकी मुद्रामें विचार-विकल्प उठा करते हैं वे विकल्प ज्ञान पश्यन्ती वाणी है, और उस वाणीकी जो शक्ति है अथवा उस ज्ञानकी जो शक्ति है, जो कि आवरणके क्षयोपशम और क्षयसे उत्पन्न हुई है वह है सूक्ष्मा। तो यहाँ ये सभी अनित्य हैं और भिन्न-भिन्न हैं। उन्हीं शब्दोंकी योजनासे यह श्रुत बना हुआ है, इसलिए श्रुत अपौरुषेय नहीं, किन्तु बड़े-बड़े विद्वान् विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा रचे गए हैं, और चूंकि उनमें परम्परा एक सर्वज्ञ वीतराग देवसे प्रकट हुई है, इसलिए उसके ही अनुसार ही धारामें रचा जाने वाला यह सब आगम समीचीन है। इस सिद्धांतके अतिरिक्त अन्य प्रकारकी कल्पनायें करना किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता। शब्दब्रह्मकी सिद्धि प्रत्यक्षसे तो है नहीं, अनुमानसे भी नहीं। जैसे कि क्षणिक सम्वेदनकी सिद्धि शब्दाद्वैतवादियोंने स्वसम्वेदनसे नहीं मानी, क्योंकि वह निरंश और क्षणिक है। इस प्रकार निरंश नित्य शब्दब्रह्मकी सिद्धि भी स्वसम्वेदनसे नहीं होती। आगमसे भी सिद्ध नहीं बल्कि यह अन्योन्याश्रय है। जब शब्दब्रह्मकी सिद्धि हो तब आगमकी सिद्धि मानी जाये। जब आगमकी सिद्धि हो तब शब्दब्रह्मका अस्तित्व समझा जाये और फिर शब्दब्रह्मकी जो भी पर्याय है वह सब मिथ्या बताई गई है, अविद्यात्मक बताई गई है। तो जो अविद्यास्वरूप आगमादिक हैं वे शब्दब्रह्मका ज्ञान कैसे करा सकेंगे? प्रमाणके बिना अगर किसी पदार्थको जबरदस्ती सिद्ध किया जाये तो फिर ज्ञागके बबूला भी सिद्ध कर लो। यों अटपट बातें भी सिद्ध कर दी जायेंगी। इसलिए कोई शब्दब्रह्म नित्य है और उसकी पर्याय आगम है ऐसा नहीं है, किन्तु शब्द एक संकेतकी चीज है और उन संकेतके शब्दों द्वारा उनकी योजना करके एक भावज्ञानको बताया गया है, वही श्रुतज्ञान कहलाता है।

श्रुतज्ञानके सम्बन्धमें वास्तविकता यह है कि इसकी मूल उत्पत्ति वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिसे हुई है। जो वीतराग सर्वज्ञ सकलपरमात्मा होते हैं वे इस पृथ्वीसे ५ हजार धनुष ऊपर रहते हैं। इन्द्रजन वहाँ समवशरणकी रचना करते हैं, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, उसे गणधर झेलते हैं, विशिष्ट ज्ञानी साधुसंत उस आगमका गूथन करके फिर साधारणजनोंमें ज्ञान प्रकाश कराते हैं, फिर किसी समय कोई वीतराग सर्वज्ञ सकलपरमात्मा हों तो उनके भी वही दिव्यध्वनि प्रकट होती है। उस मूल परम्पराके अनुसार जो भी आचार्यों द्वारा विरचित ग्रंथ हैं वे सब आगम हैं। इसी तथ्यको अगर कोई इस तरहसे कहे कि सबसे पहले तो इस आगमको स्वर्गमें ब्रह्मा ने पड़ा था, फिर उसे यहाँके ऋषियोंको दिया गया, फिर वहीं स्वर्गमें चला गया, फिर दोनों जगह चलता आदिक कल्पनायें इसी आधारको लेकर लोग किया करते हैं, पर वास्तविकता यह है कि श्रुतज्ञान पौरुषेय है। मूल परम्परामें

तो सकलपरमात्मदेव रचा गया है और परम्परामें आचार्यों द्वारा रचा गया है। तो इसलिए शब्दजन्य यह श्रुतज्ञान है। तो शब्दजन्य मतिज्ञानपूर्वक होने वाला यह श्रुतज्ञान युक्ति, आगम, अनुभव सभीसे सिद्ध है और मुख्य बात तो यह है कि जो कोई भी ज्ञानीपुरुष हैं वे युक्तियों से, अनुभवसे सब प्रकारसे उसे समझ लें। अगर कोई दोष नहीं आता तो वह वस्तुस्वरूपको समझाने वाला श्रुतज्ञान है, ऐसा समझ लेना चाहिए।

यहाँ शब्दब्रह्मवादी कहते हैं कि शब्दब्रह्म ही एक तत्त्व है और वह तो जलके समान है और उसमें जो अनेक बबूले उठा करते हैं इस तरह ये सब दृश्यमान पर्यायें हैं। सो यह सब झूठा प्रतिभास हो रहा है। यह माया दुस्वार है अर्थात् उसका पार पाना बड़ा कठिन है। ऐसी मायाके कारण प्राणियोंको भ्रम है कि वस्तुतः तो मूल तत्त्व एक शब्दब्रह्म ही है और उस ही शब्दब्रह्मकी ये सब पर्यायें हैं जो दिख रही हैं। उन्हीं पर्यायोंमें से एक आगम भी है। तो यह सब जो विशेष निर्णयमें आता है वह तो अविद्या है और जब अविद्याका कोई अविद्यारूपसे ज्ञान कर ले तब विद्याका ज्ञान होता है। तो मिथ्याज्ञान हो, सम्यग्ज्ञान हो, सबका बीज शब्दब्रह्म है। आगम या श्रुतज्ञान शब्दब्रह्मसे अलग कुछ नहीं है।

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि जो ऐसा ज्ञान कराये कि शब्दब्रह्म भ्रान्तियोंका बीज है और भ्रान्तियोंके बीजके साथ अविनाभाव बतानेसे तो यहाँ अनुमान प्रमाण बन गया। और जब अनुमान प्रमाण बने तो हेतु पक्ष दृष्टान्त आदिक सब बनेंगे। इस तरहसे यह तो खूब द्वैत हो गया, अद्वैत कहाँ रहा? और भी अधिक न चलें तो कमसे कम इतना तो मान ही लें कि बीजभूत शब्दब्रह्म है और नैमित्तिक यह सब अविद्या है, इससे भी द्वैत सिद्ध हो गया। तब अनादि अंत एक नित्य व्यापी शब्द परमब्रह्म तो सिद्ध नहीं हो सकता, जिससे कि यह कहा जाये कि शब्दब्रह्म ही घट-पट आदिक पदार्थोंके रूपमें परिणमता है और श्रुत आगम आदिक रूपसे परिणमता है, और भी देखिये जब तक यह निश्चय न हो कि सम्पूर्ण भेदोंको प्रकाश करने वाली प्रतीति भ्रान्तिरूप है तब तक शब्दब्रह्मकी सिद्धि नहीं होती और जब तक शब्दब्रह्मकी सिद्धि न हो तब तक भेदप्रतीति भ्रान्ति रूप है, यह सिद्ध नहीं हो सकता। तो इसमें अन्योन्याश्रय दोष है। किसी तरह शब्दब्रह्म ही नहीं सिद्ध हो सकता। फिर उसकी चार अवस्थायें कहना बैखिरी, मध्यमा, पश्यन्ती और सूक्ष्मा आदिक कथन सब असंगत हैं, और स्याद्वादियोंके सिद्धान्तसे चलें तो ये चार वाणियां भी सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि वचनके दो भेद हैं (१) द्रव्यवचन और (२) भाववचन। तो द्रव्यवचन तो श्रोत्रग्राह्य है और बैखिरी, मध्यमा आदिक श्रोत्रग्राह्य होते हैं, तब यह द्रव्यवचनका ही दूसरा नाम रखा गया है। द्रव्यस्वरूप वाणी तो भाषावर्णनाके परिणमन हैं। सो जैसे बैखिरीमें कहते हैं कि कंठ, तालू आदिकका निमित्त पाकर, वायुका संघर्ष पाकर यह बैखिरी प्रकट होती है तो यही तो द्रव्यवचनकी बात है। इसी प्रकार मध्यमा वाणी भी बैखिरीसे सूक्ष्म है। वह भी किसी रूपमें श्रोत्रग्राह्य है, और भाववचनके दो भेद हैं (१) एक विकल्परूप, (२) शक्तिरूप। तो विकल्प तो है पश्यन्ती। सो भाववाणीमें संज्ञा पश्यन्ती रखी गई है

तो वह ठीक है और शक्तिरूप भाववाणी सूक्ष्मा है। वचनविज्ञानके आवरण करने वाले कर्मोंके क्षयोपशमसे जो आत्मामें शक्ति होती है वह शक्तिस्वरूप भाववाणी सूक्ष्मा वाणी है तब तो उसमें कोई विरोध नहीं, क्योंकि ऐसी शक्तिरूप सूक्ष्मा वाणीके बिना किसी भी जीवके वचन नहीं निकल सकते। याने वचनविज्ञानके आवरणका क्षयोपशम हो वही तो वचनमें प्रवृत्ति कर सकता। सर्वज्ञ भगवानके भी जो दिव्यध्वनि खिरती है वह तो सर्व केवल ज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न होता है। सो वहाँ भी उस दिव्यध्वनिका कारण आवरणका विच्छेद है। इस तरह चैतन्यस्वरूप सामान्यसे बात देखें तो वह सब आत्मामें व्यापने वाली शक्ति है, परन्तु विशेष-विशेष स्वरूपसे तो वह सर्वव्यापक नहीं है। प्रत्येक जीवकी शक्ति उस ही जीवमें व्यापक है। तो ऐसी शब्दकी योजना होती है उससे पहले जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। सभी ज्ञानोंमें शब्दकी योजना अनिवार्य नहीं है। शब्दकी योजना कर देनेपर जो ज्ञान बनता है वह श्रुतज्ञान है।

इस प्रसंगमें कुछ संक्षिप्त प्रासंगिक विवरण समझना चाहिए कि सर्व ज्ञानोंमें उत्कृष्ट ज्ञान केवलज्ञान है और सब ज्ञानोंमें छोटा ज्ञानसूक्ष्म निगोदियाका जो लब्धपर्याप्तक है, तीन मोड़े वाली गतिसे जो जन्म चल रहा है उसका प्रथम मोड़ेमें होता है। तो इस जघन्यज्ञानमें भी अनन्तअविभागी प्रतिच्छेद है। शक्तिके अंशोंकी जघन्य वृद्धिको अविभागप्रतिच्छेद कहते हैं। जो जो सबसे छोटा ज्ञान है वह भी जघन्य अंतरसे अनन्त गुना है। उसे बोलते हैं लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान। यह ज्ञान भी इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक है। इस सूक्ष्म निगोदिया लब्धपर्याप्तकके केवल स्पर्शनइन्द्रिय है। उस स्पर्शनइन्द्रियसे उत्पन्न हुए मतिज्ञानके अनन्तर यह लब्ध्यक्षर श्रुतज्ञान होता है। यह ज्ञान सब निरावरण है, क्योंकि इससे कम ज्ञान होता ही नहीं। अगर इतना भी ज्ञान नष्ट हो जाये तो आत्मा ही न रह सकेगा। तो जैसे पहले कहा गया था कि सभी श्रुतज्ञान शब्दयोजनापूर्वक हों, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु जो सम्यक् श्रुतज्ञान है वह संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंके ही होता है और वह शब्दयोजनासहित होता है। इस कथनमें किसी भी प्रकारका विरोध नहीं है।

तो यहाँ यह समझना कि वह जो शक्तिरूप लब्धि है सूक्ष्मवाणी है यह नाम रखा है और फिर जो पर्यायरूप है, विकल्परूप तो पश्यन्ती वाणी और अक्षर प्रयोग वाली बैखिरी और मध्यमा वाणी है। यहाँ जो श्रुतज्ञान कहा जा रहा, आगम कहा जा रहा वह सम्यग्ज्ञानके प्रकरणका है और वहाँ यह कहना कि शब्दकी अनुयोजनासे ही श्रुत होता, इस लक्षणमें कोई विरोध नहीं है। यद्यपि श्रोत्रेन्द्रियके सिवाय अन्य इन्द्रियसे भी मतिज्ञान होता है और उससे अर्थान्तरका ज्ञान होता है, वह अवाच्य श्रुत हो या अन्य श्रुत हो, उसमें भी इस तरह निरखें कि भाववाणीरूप चेतनाकी योजना है। तो सब जगह यह श्रुतपना व्यवस्थित होता है। एकेन्द्रिय आदिकके भी श्रुतज्ञान है, पर वह है कुश्रुतज्ञान। और उनके जो मतिज्ञान हो सकता है तत्पूर्वक है और जिससे वस्तुस्वरूपका अधिगम किया जाना है, जैसा कि इस अध्यायका प्रसंग है वह सब प्रधानतया श्रोत्रजन्य मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है अथवा न भी सुनो यदि आगमके अक्षरोंको पढ़कर, भीतर अन्तर्जल्प भीतर उस ही प्रकारके शब्दसे उठते हैं

जो अव्यक्त हैं, तत्पूर्वक श्रुतज्ञान होता है तो वहाँ भाव शब्दोंकी योजना है। इस तरह भावशब्द और द्रव्यशब्द इनके अनियोजनसे ही श्रुतज्ञान होता है। तब यह बिल्कुल ठीक ही कहा गया है कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और जिस मतिज्ञानसे पदार्थका निश्चय होता, श्रुतज्ञानसे भी पदार्थका विशेषरूपसे निश्चय होता है। जो मूल ज्ञान ५ कहे गए हैं मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनमेंसे प्रथम दो ज्ञान तो परोक्षज्ञान कहलाते हैं, जिसमें मतिज्ञानके पर्यायान्तर है।

सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान तर्क और अनुमान और उन सबसे बचा हुआ जो भी ज्ञान है परोक्ष, वह सब श्रुतज्ञान है। जैसे कि जैसा कुछ दार्शनिक मानते हैं उपमान, तो उपमान भी शब्दयोजनापूर्वक होता है इसलिए श्रुतज्ञानके ही अन्तर्गत है। जैसे जो पुरुष रोज ही रोझ गायको देखता है और यहाँ किसीने समझाया, जानकारने बताया कि गायके समान रोझ हुआ करता है जो जंगलमें पाया जाता है। अब ऐसी शक्ति वाला पुरुष जंगलमें कभी पहुंचे और वहाँ रोझ दिखे तो झट उन शब्दोंकी याद हो गई बताया था कि गायकी तरह रोझ होता है, उन शब्दोंकी यादपूर्वक जो यहाँ अर्थान्तरका ज्ञान हुआ कि ओह यही है वह रोझ, देखो गायके सदृश है ना। तो शब्दयोजनापूर्वक जो यहाँ गाय बना वह श्रुतज्ञान है। इस उपमानको नियत प्रमाणसे न्यारा प्रमाण नहीं कह सकते। ऐसे तो अनेक प्रमाण हैं जिनके नाम जुदे-जुदे हैं। फिर कितने प्रमाण बनाये जायेंगे? संख्याओंका ज्ञान, रेखाओंका ज्ञान, कुंजियोंका ज्ञान। कोई वस्तु जितने रूपयेमें मन भर आये उतने ही आनेमें ढाई सेर आयेगी आदिक गणित कुंजियां हैं, उनका ज्ञान। गणितोंकी कुंजियां हैं उनका ज्ञान और भी अनेक प्रकारके ज्ञान हैं, उन ज्ञानोंका किसमें अन्तर्भाव करेंगे? बात यह है कि शब्दयोजनापूर्वक जितने भी ज्ञान बनते हैं वे सब श्रुतज्ञान कहलाते हैं।

यहाँ शंकाकार कहता है कि जो परोपदेशकी अपेक्षा रखे उसे ही तो श्रुतज्ञान कहेंगे, पर गणितका ज्ञान और सभी ज्ञान ये तो उपदेशकी अपेक्षा नहीं रखते। इसलिए वे सब प्रत्यक्षज्ञान कहलाते हैं। मनसे जान लिया ३ और ३ मिलकर ६ होते हैं, अब इसमें श्रुतज्ञानकी क्या बात आयी? इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि जब तक शब्दयोजना न हुई थी, न पड़ा था, न बताया था तब तक तो यह ज्ञान न चलता था। कोई अध्ययन से, मनन से, शब्दयोजनासे ये सब ज्ञान चले हैं तो ये सब श्रुतज्ञानमें शामिल हैं। श्रुतज्ञान केवल शास्त्रोंमें ज्ञानका ही नाम है। वह तो जीवोंके ज्ञानकी पर्याय है शब्दश्रुतज्ञान। जो धर्मसम्बंधित है वस्तुस्वरूपको बताने वाले शब्द हैं वे सब शास्त्र हैं, पर उनके अतिरिक्त रोज-रोज सभी जीवोंके जो मतिज्ञानपूर्वक अर्थान्तर ज्ञान होता है वह भी सब श्रुतज्ञान कहलाता है।

यहाँ सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है, क्योंकि सम्यग्ज्ञानसे ही वस्तुस्वरूपका अधिगम होता है। इससे यहाँ सम्यक् श्रुतज्ञान होता है। अथवा शब्दयोजनापूर्वक जो ज्ञान होते हैं उन सबको भी आगम कह लीजिए, पर आगम दो तरहके समझो फिर। एक लौकिक और दूसरा धार्मिक आगम। जैसे किसी

पुरुषने सुना कि जो सिंहासन पर बैठा हो वह तो राजा कहलाता और जो छोटे आसन पर बैठा हो वह मंत्री आदिक है, ऐसा किसी जानकारके मुखसे शब्द सुना और ऐसा ही प्रत्यक्षमें देखा तो देखकर जो शब्दयोजना बनी, ऐसा उसने कहा था, ऐसा सुना था, जैसा उसने कहा था वैसा ही दिख रहा और उनको राजा, मंत्री समझ लेना, यह सब श्रुतज्ञान है। हाँ जब कोई अभ्यस्त पुरुष शब्दयोजना बिना सीधा परिचय करता है निरपेक्ष होकर तो वह मतिज्ञान कहलाता है। तो यह लक्षण यथार्थ है कि शब्दयोजनासे जो ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान कहलाता है।

यहाँ मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयमें कुंजीरूप स्पष्टीकरण किया जा रहा है। जहाँ शब्दकी अनुयोजना नहीं है वहाँ होने वाले ज्ञान तो मतिज्ञान हैं और जहाँ शब्दकी अनुयोजना है, शब्द से, नामसे छुवा हुआ है वह सब श्रुतज्ञान है। जैसे स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। जब तक शब्दयोजनासे विद्ध नहीं है, मात्र धूमको देखकर अग्निका ज्ञान हुआ वह तो मतिज्ञान और जहाँ शब्दयोजना सहित है, पूर्वके सम्बन्धको प्रतिपक्ष करके शब्दयोजना सहित ज्ञान है, समझाये या समझे, वह अनुमान श्रुतज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार एक अनुमानकी ही क्या बात, प्रत्यभिज्ञान आदिक, स्मरण आदिक और सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष भी जब तक नामसे असंस्पृष्ट हैं तब तक मतिज्ञान है। जहाँ शब्दसे अनुयोजित हुआ तब जो ज्ञान बना वह श्रुतज्ञान है। इस कुंजीके आधारसे अन्य लोग उपमानको जो अलगसे प्रमाण मानते हैं वह अलग प्रमाण नहीं है। यदि शब्दयोजना रहित है तब तो वह प्रत्यभिज्ञानमें शामिल है और शब्दयोजना विद्ध है तो वह शुद्ध ज्ञान कहलाता है। उपनाम नामका प्रमाण कोई अलग प्रमाण नहीं है। यदि उपमानको अलगसे प्रमाण समझा जाय तब तो बहुत-बहुत ज्ञान हैं, ऐसे जिनको अलग-अलग प्रमाण मानना चाहिए। जैसे सीढ़ी में, नसेनी में, जीनमें ऊपर-नीचेका ज्ञान है। यह संदूक स्थूल है, यह कपाट महान है आदिक अनेक ज्ञान हैं। सूर्य, मंगल दूर हैं, यह अनाज छोटा है, यह वजनदार है, सुई आदिक हल्की हैं, यह कोठी निकट है, यह लेखनी सीधी है, यह टेढ़ी है आदिक अनेक ज्ञान हैं। उन सबको अलग प्रमाण मानना चाहिए उन्हें जो उपमान प्रमाणको अलग प्रमाण माननेकी हठ करते हैं, क्योंकि ये सब ज्ञान प्रत्यक्षमें तो शामिल हैं नहीं। प्रत्यक्षने तो जैसे संदूक देखा, जीना देखा, देखा क्या अब, यह बड़ा है, छोटा है आदिक बातें हैं, ऐसा बतलाता नहीं प्रत्यक्ष। वह जो है सो दिख गया। अब उसमें यह शब्दयोजना लगे और इस तरहकी विशेषता जाने तो वह श्रुतज्ञान कहलाता है, पर इसे प्रत्यक्ष भी न कह पायेंगे। और श्रुतज्ञान न माननेकी हठपर शंकाकार है ही तो ऐसे कितने प्रमाण माने जायेंगे? यदि शंकाकार कहे कि इन सबको श्रुतज्ञान मान लो तो बस ऐसे ही उपमान भी श्रुतज्ञान है।

जैसे किसी अनजान पुरुषको किसी जानकारने समझाया कि यह जीना है, इसमें अमुक सीढ़ी ऊँची है, अमुक सीढ़ी नीची है। उसने सुन लिया। अब देखा तो न था, अब देखनेमें आया। पहले जो उपदेश सुना था उसको स्मरण कर अब वहाँ यह कह रहा है, जान रहा है ओह! जो वह कहा गया था वह ठीक है, यह ऊँचा है, यह नीचा है। तो शब्दयोजना सहित ज्ञान है, इसलिए श्रुतज्ञान

कहलाया। संख्याओंका ज्ञान २ और २ मिलकर ४ होते हैं या अनेक प्रकारके गणित हैं। प्रत्यक्षमें तो है नहीं, और सांख्यवहारिक मति स्मृति ये भी नहीं, तब समझना चाहिए कि चूंकि ये शब्द योजनासहित हैं, इस कारण ये श्रुतज्ञान कहलाते हैं। यदि शंकाकार यह कहे कि जो संख्याका ज्ञान स्थूलताका, अल्पताका, ऊँचा-नीचापनका ज्ञान हो वह तो प्रत्यक्षप्रमाण है। इन ज्ञानोंमें परोपदेशकी अपेक्षा नहीं हुई। हाँ वहाँ संज्ञा संज्ञीके सम्बन्धकी जानकारीके लिए परोपदेशकी अपेक्षा हुई याने जो किसीने कहा था कि यह महान् है, यह अल्प है, यह यही ही है। यही तो महान् है। तो यहाँ उस सम्बन्धकी जानकारीके लिए उपदेशकी अपेक्षा हुई है। वहाँ यह सब ज्ञान प्रत्यक्ष है।

इस शंकाके समाधानमें कहते हैं कि फिर यह बताओ कि संज्ञा और संज्ञा वाले पदार्थोंके सम्बन्धकी जो जानकारी हुई इसे किस ज्ञानमें मेल करेंगे? प्रत्यक्ष तो तुम भी नहीं मान रहे। स्मृति प्रत्यभिज्ञान आदिक भी नहीं। तो शंकाकार द्वारा नियत प्रमाणोंसे अतिरिक्त प्रमाण मानना चाहिए। प्रत्यक्षमें है नहीं, अनुमानमें है नहीं, उपमानमें ही नहीं, तब फिर कौनसा प्रमाण है? इसकी अलग प्रमाणता समझनी चाहिए। सो ऐसी तो कोई व्यवस्था ही न कर सकेगा। बात सीधी दो हैं परोक्षज्ञान जितने हैं उनमें जो शब्दसे अछूते हैं, निर्विकल्प हैं, सीधा एक प्रतिभाससे सम्बन्ध रखते हैं वे तो मति, स्मृति आदिक ज्ञान हैं। कोईसे भी और यह ही ज्ञान अथवा अन्य अर्थान्तरका ज्ञान जो भी शब्दसे स्पृष्ट है और शब्दोंसे अनुयोजित होकर ज्ञान हुए हैं वे सब श्रुतज्ञान कहलाते हैं। यहां छन्दास्थ जीवोंको जो ज्ञान हो रहे हैं वे ज्ञान दो किस्मके हैं एक तो विकल्परहित, शब्दयोजनारहित प्रतिभास मात्र। वह तो मतिज्ञान कहलाता है। दूसरा शब्दयोजनापूर्वक जो विशिष्ट ज्ञान है वह श्रुतज्ञान कहलाता है। इसका उल्लंघन करके अन्य प्रकारसे प्रमाणको माननेकी व्यवस्था नहीं बनती। उपमान प्रमाण भी यदि नामसे अनुयोजित नहीं है, संज्ञा संज्ञीके सम्बन्धकी प्रतिपत्तिपूर्वक नहीं है, अथवा परोपदेशकी अपेक्षा रखने वाला नहीं है तो वह सादृश्य प्रत्यभिज्ञान बनेगा और यदि परोपदेशकी अपेक्षा है, शब्दसे अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान कहलायेगा।

यहाँ शंकाकार कहता है कि जो यथार्थ वक्ताके उपदेशसे शिष्यको संज्ञा और संज्ञीके सम्बन्धमें जानकारी हुई है तो वह आगमज्ञानका फल ही है, इस कारण वह अलग प्रमाण कुछ नहीं है। वह तो प्रमाणका फल है। प्रमाण तो वह कहलायेगा जो प्रमिति क्रियाका साधन हो। फलोंमें क्या ढूँढना? प्रमाणके फलरूप तो अनेक जानकारियां हैं। स्वयं तो सिद्धान्त कहता है कि प्रमाणका फल है अज्ञाननिवृत्ति, त्याग, ग्रहण, उपेक्षा, इसे फल माना है, प्रमाण तो नहीं माना। तो जो फलरूप है उसमें कौनसा प्रमाण है ऐसा तर्क न उठाना चाहिए। इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं कि इस तरहसे उपदेशमें आये उपमान वाक्यसे ही तो सदृशताका ज्ञान हुआ कि ओह जिसको कहा था कि रोझ होता है जंगलमें और गायके सदृश होता है। अब जंगलमें देखा और उन शब्दोंका ख्याल किया और उन उपदेशोंके आधारपर यह रोझ है, कितना है, ऐसी जानकारी की, तो इसे आगम प्रमाण कह लीजिए और आगम ही श्रुत है। तो श्रुतसे अलग उपमान प्रमाण तो न रहा और जो यह कहा था कि प्रमाणके

फलमें प्रमाणपनेकी खोज नहीं हुआ करती। तो उसका यह सीधा उत्तर है कि फल प्रमाणसे अभिन्न है, कोई अलग चीज नहीं है। प्रमाणका फल प्रमाणस्वरूप ही है। इस तरह उपमान शब्दसे अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान ही कहलायेगा।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि उपमानमें यथा समान तुल्यादिक शब्दोंसे सूचित होता है उपमान उपमेय भेद, उस भेदको बतानेमें तत्पर है यह उपमान प्रमाण। यदि ऐसा उपमान वाक्यसे उत्पन्न हो, उपमान प्रमाण तो श्रुतसे अलग है, और जब उपमान प्रमाण द्वारा कोई बात सुनते हैं, समझते हैं कि इसका मुख चन्द्रकी तरह है या अन्य कुछ, तो एक अतिशय सहित चमत्कारी ज्ञान पैदा होता है। सुनने वालेके चित्तमें भी कोई एक तरंग उठती है। तो ऐसा उपमान भी श्रुतसे अलग प्रमाण है।

इस शंकाका समाधान यह है कि इस तरह अगर द्रव यथा आदिक माननेके कारण उपमान अलग प्रमाण हो जाये तो फिर रूपक अलंकारसे पहले सहोक्ति अलंकार आदिक अनेक ऐसे उपदेश हैं, वचन हैं कि जिनमें रूप्य-रूपक भावको समझनेमें समर्थ है वह शब्द और बल्कि उपमान वाक्यसे भी बहुत ही ऊँचे अलंकार और भावमें यह वाक्यमें उत्पन्न होने वाला ज्ञान, ऐसे १० ज्ञान अलग प्रमाण मानने पड़ेंगे। ज्ञान सो वह है ही, और उनसे भी कोई विशिष्ट बोध होता है, तरंग उठती है, सुनने वालोंको हर्षादिक उत्पन्न करते हैं, विसम्वाद भी नहीं, सो अप्रमाण भी नहीं। तब तो रूपक आदिक अनेक अलंकार प्रमाण बन बैठेंगे। अगर शंकाकार ऐसा समाधान करे कि रूपक, उपमा आदिक अलंकार तो श्रुतज्ञान हैं, क्योंकि उपदेशका मूल कारण पाकर ये अलंकार बने हैं। तो यही समाधान उपमानके लिए भी होना चाहिए। उपमान भी तो प्रयोजनमूलक है, इस कारण उपमान अलग प्रमाण नहीं। यदि वह शब्दयोजनासे रहित है तो मतिज्ञान है और शब्दसे अनुयोजित है तो वह श्रुतज्ञान है।

अब कोई यह जिज्ञासा करे कि प्रतिभा कौनसा प्रमाण होता है? तो प्रतिभा ऐसी बुद्धिको कहते हैं कि जो सत्य होने वाली बातोंको शीघ्रतासे समझ लेती है। जैसे अमुक चीज मंदी हो जायेगी, अमुक तेज हो जायेगी। सभाचतुर विद्वान् तो समयोचित ऐसे तत्त्वकी बात कह डालते हैं कि सुनने वाले बड़े प्रभावित होते हैं। कहते हैं ना कि इसकी प्रतिभा बहुत अच्छी है, तो वह प्रतिभा कौनसा प्रमाण है? ऐसी कोई जिज्ञासा रखे तो उसका यह भी समाधान है कि प्रतिभा ऐसे ही ज्ञानका तो नाम है जो देश, काल, प्रमाण अनुसार उत्तरकी जल्दी जानकारी बन जाये। तो ऐसी जानकारी प्रतिभा शब्दयोजना सहित है, अतएव श्रुतज्ञान है। हाँ उसका अभ्यास हो और फिर अनेकों ही प्रतिभायें बन जाती हैं तो वह मतिज्ञान है। शब्दयोजना लग जाने पर अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होना वह श्रुत कहलाने लगता है, ऐसे ही जितना भी मतिज्ञानकी पर्यायोंमें बताया है, सभीके सभी शब्दयोजना होने पर श्रुतज्ञान है, और शब्द विकल्परहित सम्भव प्रमाण मात्र प्रतिभास हो तो वह मतिज्ञान है। ऐसे अनेक सम्भव प्रमाण हैं। जैसे कोई सुने कि यह अष्टसहस्रीका विद्वान् है तो इतना सुनते ही समझ जायेगा कि फिर

तो इसको देवागम स्तोत्रका बहुत ऊँचा ज्ञान है। किसीने कहा चार बज गए तो वह तुरन्त समझता है कि ओह! तीन तो बहुत देरके बज चुके, आदिक ज्ञानोंका नाम संभव प्रमाण कहलाता है। तो उपमानको अलग प्रमाण माननेका आग्रह करने वाले तो सम्भव आदिक और भी प्रमाण मान बैठेंगे, मानने पड़ेंगे। एक अभाव प्रमाण है कि जिस वस्तुके जाननेकी इच्छा है उसका प्रतियोगी तो मिल जाये। उस वस्तुरहित प्रतियोगीका दर्शन होना वह अभाव प्रमाण कहलाता। तो ऐसे अनेक प्रकारके अभाव और अर्थापत्तियां, ऐसा तो ऐसा हो गया तो ये सारे प्रमाण चूंकि परोपदेशापेक्ष हैं, शब्दयोजना सहित हैं, संज्ञा संज्ञीके सम्बंधकी जानकारी रखकर होते हैं, इस कारण ये सभी ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते हैं।

सारांश यह हुआ कि नाम शब्द संसर्ग रहित जो ज्ञान है वह तो है मतिज्ञान और नाम शब्द सम्बन्ध प्रतिपत्ति सहित परोपदेशापेक्ष जो ज्ञान है वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान एक सामान्यतया हुआ और एक सम्यग्ज्ञानके प्रकरणमें सम्यक् श्रुतज्ञानकी बात हुई। तो इस प्रसंगमें सम्यक् श्रुतज्ञानकी बात चल रही है, क्योंकि वस्तुके स्वरूपके अधिगमका उपाय क्या है, इसके उत्तरमें इस अध्यायमें ज्ञानका विवरण चल रहा है।

तो ऐसा यह श्रुतज्ञान जो पदार्थोंके स्वरूपका खूब विवरण करते हैं वे मूलमें दो प्रकारके हैं अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट। अंगप्रविष्टके १२ अंग हैं और उनमें भिन्न-भिन्न विषयोंका बहुत विशाल वर्णन है। जैसे आचारांग में मुनियोंके आचरणका बहुत विस्तृत वर्णन है। तो ऐसे भिन्न-भिन्न विषय वाले ये अंग हैं और उनके अतिरिक्त जो कुछ विचित्रता है वह अंगबाह्य है, जिसमें स्फुट विषयोंका वर्णन है। जैसे सामायिककी समस्त बातें, तीर्थकरोंकी स्मृतिके सब तथ्य, वंदना, प्रतिक्रमण आदिककी सब विधियाँ अंगबाह्यमें वर्णित हैं। इस प्रकार यह भी श्रुतज्ञान है कि जिसके आधारपर ज्ञानका विकास होता है। यह श्रुतज्ञान केवलज्ञानका बीज है और तब ही यह बतलाया है कि श्रुतज्ञानमें और केवलज्ञानमें विषय बहुत विशाल है, समान है, पर अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान तो परोक्षज्ञान है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

इस सूत्रमें जो यह कहा है कि “श्रुतमतिपूर्व।” तो उसका भाव है कि श्रुतस्य प्रमाणत्वं पूरयति इति श्रुतपूर्व याने श्रुतके प्रमाणपनेको जो पूर दे उसे श्रुतपूर्व कहते हैं। तो श्रुतके प्रमाणपनको पूरने वाला कौन है? पहले हुआ निमित्तभूत कारण, वह है मतिज्ञान याने मतिपूर्वक मतिज्ञानके कारण करके उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। यहाँ यह शंका न करनी कि लोकमें कारणके समान कार्य देखा जाता है, जैसे गेहूँसे गेहूँ उत्पन्न होता है तो मतिसे जो होगा वह मति ही कहलायेगा। श्रुतज्ञान कैसे हो सकता? गेहूँ पूर्वक गेहूँ होता है इसी प्रकार मतिपूर्वक मति ही तो होगा। जो होगा वह मतिस्वरूप ही तो बनेगा, तब श्रुत नहीं कहला सकता।

समाधान यह है कि ऐसा एकान्त नहीं है कि जितने भी कार्य होते हैं वे कारणके ही समान होते हैं। देखो दंड चक्र आदिक कारण पूर्वक घड़ा बनता है, पर घड़ा दंडरूप तो नहीं हो जाता, और फिर स्पष्ट बात यह है कि मतिज्ञान होने पर भी और बाह्य श्रुतज्ञानका निमित्त सन्निधान होने पर भी जिसके श्रुतज्ञानावरणका प्रबल उदय है उसके श्रुतज्ञान नहीं सम्भव हो सकता। और श्रुतज्ञानावरणका

क्षयोपशम बने विशेष तो श्रुतज्ञान होता है। तो कारण तो वास्तविक श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम है, पर उसकी उत्पत्ति मतिज्ञानपूर्वक होती है। इस तरहसे मतिज्ञान निमित्तमात्र समझना।

यहाँ यह भी शंका न रखनी कि श्रुत तो अनादि निधन माना गया है। जैसे लोग कहते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, अनादि अनंत हैं, किसीने रचे ही नहीं। तो जब श्रुत अनादि अनन्त है, तो उसे मतिपूर्वक कैसे कहा जा सकता? और अगर मतिपूर्वक कहेंगे तो अनादि निधन न रहा। उसकी आदि तो हो गई। उससे पहले मतिज्ञान था तो श्रुतज्ञानकी आदि हो गई और जब श्रुतकी आदि हो गई तो उसका अन्त भी होगा, क्योंकि जिसकी आदि है उसका अन्त भी होता है, और जब आदि अन्त हो गए श्रुतमें तो वह पुरुषकृत हो गया याने पुरुषोंने बनाया। तो जो पुरुष बनाये, प्राणी बनाये वह तो अप्रमाण है, यह शंका यों ठीक नहीं है कि यहाँ स्याद्वादसे उसका अर्थ लगाना चाहिए। द्रव्यदृष्टिसे याने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सामान्यरूपसे विवक्षित किए जायें तो कहा जायेगा कि श्रुत अनादिनिधन है अर्थात् श्रुतज्ञानमें जो बात बतायी जाती है, जिसका उत्थान दिव्यध्वनिसे चलता है वह श्रुतज्ञान कोई नया गढ़ा गया हो याने था ही नहीं, ऐसा है ही नहीं और कल्पनासे किया गया हो ऐसा तो नहीं होता। अनन्त तीर्थकर हो चुके हैं और भी अनन्त अरहंत हो गए हैं परम्परासे, ठीक ऐसे ही वस्तुस्वरूपके अनुरूप ज्ञान चल रहा है, श्रुत चला आ रहा है। किसी भी पुरुष ने कहीं भी, किसी भी समय किसी तरह उसे गढ़ा हो नया अपनी बुद्धि से, सो बात नहीं है। भगवान सर्वज्ञदेवकी जो दिव्यध्वनि होती है वह तो इच्छारहित है। वहाँ तो प्रकृत्या एक ध्वनि खिरती है और अन्य लोग जो आगम, शास्त्र, पुराण रचना करते हैं सो उस मूल उपदेशके अनुसार करते हैं। तो वह जो श्रुत परम्परा है वह अनादि अनन्त है। उस ही का विशेषकी अपेक्षासे आदि अन्त सम्भव है। जिस पुरुषने उन शब्दोंको सुनकर आगमको जानकर ज्ञान किया उसकी आदि है और अन्त भी है, क्योंकि श्रुतज्ञान तो ज्ञानस्वरूपकी पर्याय है। पर्याय अनादि अनन्त नहीं हुआ करती। सामान्यपर्याय, उत्तरपर्यायोंका निरन्तर होते रहना यह तो है अनादि अनन्त, पर कोई विशिष्ट पर्याय अपने क्षणमें है, अगले क्षण नहीं, तो इस दृष्टिसे आदि अन्त भी है। यों श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक सिद्ध होता है।

जैसे वृक्षमें अंकुर उत्पन्न होते हैं तो बीजपूर्वक होते हैं, पर संतानकी अपेक्षासे देखा जाये तो अनादि अनन्त है। यह बीज पहले वृक्षसे था, वह वृक्ष पहले बीजसे था, वह बीज वृक्षसे था। एक परम्परा है, अनादि है। अगर व्यक्तिगत बीज हो या व्यक्तिगत वृक्ष हो कि अमुक वृक्ष, अमुक बीज, उसकी तो आदि है, इस तरह श्रुत द्रव्यार्थिकसे तो अनादि निधन है और पर्यायदृष्टिसे सादि सान्त है, तब श्रुतज्ञानको मतिपूर्वक कहना यह अयुक्त नहीं है। दूसरी बात यह है कि लोग आगम को, वेदको अपौरुषेय इस ख्यालसे सिद्ध करना चाहते हैं कि यह आगम पूरा प्रमाणभूत कहलाये। देखो यह आगम, यह शास्त्र यह वेद किसीने नहीं बनाया। और है तो इसका अक्षर-अक्षर प्रमाण। कोई बनाये तो वह बनाया हुआ है, यह बनाया हुआ नहीं है। तो यों अपौरुषेय कहकर ख्याल तो यह जमायें कि इस तरह शास्त्र आगम पूरे प्रमाण हो जायेंगे। लेकिन दो बातें ध्यानमें रखीं। पहली बात तो यह कि जो चीज अपौरुषेय है वह क्या प्रमाणभूत है? ऐसा तो नियम नहीं है। देखो जीवोंका

उपदेश, इसका कोई कर्ता स्मरणमें तो नहीं आता कि किसने चोरीके उपदेशकी रचनाकी या पापका उपदेश यह किसने प्रारम्भ किया? था ही नहीं और किसीने कल्पनासे एक तरकीब बनायी हो, लिखा हो, ऐसा कोई कर्ता नहीं है। चले आ रहे हैं अनादिसे तो क्या चोरीका उपदेश यह प्रमाणभूत हो जायगा? मिथ्यात्व मोह ये अनादिसे चले आ रहे तो क्या ये प्रमाणभूत हो जायेंगे? न तो अपौरुषेयता ध्यानका कारण है और न अनादिसे चली आयी हुई बात वह प्रमाणका कारण है। प्रमाणका कारण तो जो युक्तिसिद्ध हो, दोषरहित हो, जीवके हितरूप हो वह सब प्रमाणभूत होता है। प्रत्यक्ष आदिक भी तो अनित्य ज्ञान है। अगर अनित्यता होनेसे प्रमाणपना न रहे तो शंकाकारके माने हुए अन्य सब ज्ञान अप्रमाण ही बैठेंगे। इसलिए अपौरुषेयताका दिमाग प्रमाणताकी सिद्धिके लिए नहीं बनता, किन्तु वह कथन सही है, परस्पर विरुद्ध नहीं है, वस्तुके स्वरूपके अनुकूल है। ये बातें निरखनी चाहिए। अगर युक्ति आगमसे विरोध न पड़े तो वह प्रमाणभूत है, और भला जहाँ कुछ वाक्य बनाये गए अग्निकी पूजा करो, इससे स्वर्ग मिलेगा, आदि जो कुछ भी बनाये गए हैं, वाक्य रचे गए हैं यह तो एक रचना है, वह बिना की हुई कैसे हो सकती है? बात यह दूँडना चाहिए कि मूल कर्ता सर्वज्ञ हुआ, निर्दोष आत्मा हुआ। जो निर्दोष है, सर्वज्ञ आत्मा है उसका मूलसे जो उपदेश चला वह प्रमाणभूत है।

अब यहाँ शंकाकार कहता है कि देखो किसी जीवको प्रथम-प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न हो रहा तो यह बताया जाता ना कि सम्यग्दर्शनसे पहले जो ज्ञान है वह मिथ्याज्ञान कहलाता है। जब सम्यग्दर्शन होता है तब वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तो अब जब प्रथम सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये दोनों समीचीन बन गए, तुरन्त ही बन गए। क्या उनमें ऐसा होता कि सम्यग्दर्शन हो तो पहले मतिज्ञान सम्यक् बने, बादमें श्रुतज्ञान सम्यक् बने। जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान थे वही सम्यक्त्व होते ही समीचीन हो जाते हैं। तो जब दोनों ज्ञान एक साथ सम्यक् बने तो उसमें यह कैसे कहा जा सकेगा कि श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है?

इस शंकाका समाधान यह है कि उत्पत्ति तो मति और श्रुतके क्रमसे होती है, मगर उनमें समीचीनता वह सम्यक्त्वकी कारण होती है। तो सम्यक्त्वकी अपेक्षा तो समीचीनताके लिए है, पर उनका स्वरूपलाभ तो क्रमसे ही होता है। पहला श्रुतज्ञान मतिपूर्वक है, इस कथनमें कोई दोष नहीं है और भले ही अनेक श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक भी होते हैं, पर जिस श्रुतज्ञानके बाद हुआ है श्रुतज्ञान वह श्रुतज्ञान तो मतिपूर्वक था। चाहे एक दो श्रुतज्ञानोंका भी अन्तर पड़ जाये, मगर जिस धारामें श्रुतज्ञान है उसके प्रथम श्रुतज्ञान तो मतिज्ञानपूर्वक ही हुआ था। जैसे किसीने शब्द सुना, शब्द क्या चीज है? भाषावर्गणाके पुद्गल स्कंधोंमें शब्दपर्याय बनती है। तो उस शब्दपर्यायसे वर्ण, पद, वाक्य यह समझा या अन्य इन्द्रियसे कुछ देखा, जाना, उससे तो पहले श्रुतज्ञान हुआ। अब उस श्रुतज्ञानके बाद कुछ और अभ्यास से, समागमोंसे और और बातें भी सोचता है, करता है। घट, यह शब्द सुना तो जब तक घट यह शब्द मात्रका ज्ञान है, मतिज्ञान है, ओह! इसका यह अर्थ है, यह घड़ा, यह श्रुतज्ञान हो गया, और इस घड़ेसे पानी भरा जायेगा, चलो पानी भर ले आये, ये भी श्रुतज्ञान होते

जा रहे हैं, अर्थात् इस तरह श्रुतपूर्वक भी श्रुत है, मगर सर्वप्रथम मति हुआ, उसके बाद श्रुतधारा चली, इस कारण यह दोष नहीं आता कि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक नहीं होता। यहाँ सम्यग्ज्ञानका प्रकरण है और श्रुत आगमकी बात कही जा रही तो इस श्रुतके मूल वक्ता सर्वज्ञ तीर्थकर या अन्य परमात्मा थे। उसके बाद श्रुतकेवली अन्य आचार्यजन हुए। तो उन सर्वज्ञ परमर्षिकी परम्परासे उनके उपदेशके अनुसार जो हो उसे आगम कहा है। तो वह आगम प्रमाण है, क्योंकि प्रत्यक्ष दृष्टिके मूलसे चला है, निर्दोष आत्माके मूलसे चला है। अब उसे अनेक शिष्य जन जिनमें बुद्धि अधिक है गणधर आदिक, उन्होंने ग्रंथरचना की। सो मूलमें जो रचना हुई वह अंग पूर्वादिक रूप है। फिर जब इतनी भी समझ न रही, ज्ञानहीन होता गया, लेकिन बुद्धि निर्दोष रही तब फिर छोटी आयु वालोंके अनुग्रहके लिए अल्प मति बल वाले शिष्योंके उपकारके लिए फिर ग्रन्थरचना चली। इस तरह परंपरासे चला आया हुआ वही ज्ञान। जैसे कोई इस तरह कुवेसे एक घड़ा पानी भर लाया, अब उस घड़ेमें से एक लोटेमें निकाला, फिर लोटेसे कटोरीमें लेकर पीने लगे। तो है तो उसी कुवांका जल। कोई कहे कि कटोरीका जल है, लोटेका जल है, अरे मूल तो वही है। इसी तरह कोई भी आचार्य ऋषिजन कुछ ग्रन्थरचना करें, आखिर भाव तो वही है और उसी मूल आगमके अनुसार ही बात कही जा रही है। इस तरह वस्तुस्वरूपका आगम करनेके लिए और समीचीन निर्णय करानेके लिए यह श्रुतज्ञान समर्थ है। उस श्रुतज्ञानका इस सूत्रमें विवरण किया गया है।

सूत्रमें जिस श्रुतका वर्णन किया गया है वह श्रुत दो प्रकारका है (१) द्रव्यश्रुत और (२) भावश्रुत। तो ये दोनों ही श्रुत एक सम्यक्पनेमें सम्बंध रखते हैं, जिनमें द्रव्यश्रुत तो है, ऐसे ग्रन्थोंकी रचना जो बड़े-बड़े अतिशयों वाले ऋद्धि वाले मुनिराजोंके द्वारा स्मरणकी गई है, रची गई है, वे दो प्रकारके हैं (१) अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। भगवान अरहंत सर्वज्ञरूपी हिमालयसे निकली जो वचन गंगा है उसको सुनकर जिसका अंतःकरण विशुद्ध हो गया है, याने दिव्यध्वनिका जो अर्थ समझा उस जलके द्वारा जिसका हृदय पवित्र हो गया है ऐसे बड़े-बड़े ऋद्धिधारी गणधरोंके द्वारा जो ग्रन्थ रचना है वह है आगम। सो वह १२ प्रकारके अंगोंमें रचा हुआ है। जैसे प्रथम अंगका नाम है आचारांग। इस आचारांग में चर्याका विधान बताया गया है। ८ प्रकारकी शुद्धियाँ, ५ प्रकारकी समितियाँ और गुप्ति आदिकके भेद, सब इस आचारांग सूत्रमें विस्तार सहित कहा गया है। यह आचारांग साधु संत जनोंके लिए एक मार्गप्रदर्शन करने वाला है। किस तरह रहना, कैसे चलना, समय किस तरफ लगाना, इन सब बातोंका आचारांगमें वर्णन है। दूसरा अंग है सूत्रकृतांग। इसमें ज्ञानविषयक बातोंका, विनय आदिक व्यवहारोंका सब प्रज्ञापन किया गया है। क्या करना चाहिए, क्या न करना चाहिए, व्रतमें कैसे बढ़ना चाहिए? व्रतमें कोई भंग हो जाये तो कैसे उठना चाहिए? इन समस्त व्यवहार धर्मोंकी क्रियाओंका इस अंगमें वर्णन है। तीसरा अंग है स्थानांग। इसमें पदार्थोंके भेद स्थानोंके सहारे वर्णन किए गए हैं। जैसे जीव कितनी तरहके, पुद्गल कितनी तरहके, ऐसे अनेक वर्णन हैं। समवायांगमें समान चीजोंका अलग-अलग समवाय किया गया है। जैसे द्रव्य समवाय, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, लोकाकाश, एक जीव, इनके समान प्रदेश हैं, याने असंख्यात प्रदेश हैं। तो जो

समान द्रव्य हैं उनका वर्णन है। क्षेत्रसमवाय भी किया। जैसे जम्बूद्वीप सर्वार्थसिद्धि, सप्तम नरकका बीचका बिल नन्दीश्वर द्वीपकी एक बावड़ी, ये सब एक समान विस्तार वाले हैं, मायने एक लाख योजनके विस्तार वाले हैं। ऐसा क्षेत्रोंकी समानता की दृष्टिसे वर्णन है, ऐसे अनेक वर्णन हैं, क्षेत्रसमवाय हैं। कालसमवायमें समयोंकी समानताका वर्णन है। जैसे उत्सर्पिणी अवसर्पिणी ये बराबर १० कोड़ाकोड़ी सागरके हैं। भाव समवायमें भी अनेक वर्णन हैं। जैसे क्षायक सम्यक्त्व केवलज्ञान, केवलदर्शन, असंख्यात चारित्र, ये जो परिणाम हैं ये अनन्त हैं अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदकी अपेक्षा ये अनन्त परमाणु वाले हैं। इस तरह समवायांगमें कई विधियोंसे समान-समान पदार्थोंका वर्णन है। व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगमें ६० हजार चर्चाओं द्वारा अनेक प्रश्नोत्तर हैं। जैसे जीव है अथवा नहीं है, नित्य है आदिक अनेक चर्चाओंका वर्णन है।

ज्ञातृधर्मकांडमें जो बड़े महापुरुष ज्ञाता हुए हैं धर्मात्मा जन, उनके आख्यान अवाख्यानोंका कथन है। उपासकाध्ययनमें ज्ञावकोंके आचार, व्रत आदिकका वर्णन है। अंतःकृतदशांगमें उन-उन १०-१० महान् आत्माओंका वर्णन है जो एक-एक तीर्थकरके तीर्थमें हुए और बड़े परीषहोंको सहकर, कठिन उपसर्गोंको जीतकर, समस्त कर्मोंका क्षय करके हुए हैं औपपादिक दशांगमें ऐसे-ऐसे महामुनियोंका वर्णन है जो प्रत्येक तीर्थकरोंके समयमें बड़े-बड़े उपसर्गोंको जीतकर समाधिमरण करके ५ अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए हैं। विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वारिसिद्धि, इन ५ उत्तम साधनोंमें उत्पन्न हुए हैं। प्रश्नव्याकरणांगमें हेतु, नय आदिकके सहारे या आक्षेप आदिकपूर्वक प्रश्नोंका संग्रह है, जिसमें लौकिक धार्मिक सभी पदार्थोंका निर्णय किया गया है। विपाकसूत्रांगमें कर्मोंके पुण्य-पापके फलका चिन्तवन किया गया है, और १२वाँ जो दृष्टिवादांग है उसमें अनेक दृष्टियोंका वर्णन है। जैसे १८० क्रियावादी लोग होते हैं उनके मतोंका वर्णन है। ८४ प्रकारके अक्रियावाद दृष्टि वाले हैं, उनका वर्णन है। ६७ प्रकारके अज्ञानदृष्टि वाले मत हैं, उनका वर्णन है। ३२ प्रकारके वैशक दृष्टि वाले मत हैं उनका वर्णन है, ऐसे ३६३ प्रकारके जो कुमत हैं उनका वर्णन है तथा इसके अतिरिक्त ५ प्रकारके इसी दृष्टिवादके अंग हैं, भेद हैं। परिकर्मसूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगतचूलिका, पूर्व १४ प्रकारके होते हैं पहला उत्पाद पूर्व, जिसमें यह वर्णन है कि पुद्गल जीव काल आदिकका जब-जब जहाँ जिस प्रकार पर्यायसे उत्पाद हुआ करता है उस सबका वर्णन। दूसरा है अग्रायणीपूर्व जो क्रियावाद आदिककी प्रक्रियायें हैं, क्रियाकांड हैं वे सब अग्रायणी कहलाते हैं। उनका विशेषतया इस पूर्वमें वर्णन है। तीसरा पूर्व है वीर्यप्रधान इसमें शक्तियोंका वर्णन है, छद्मस्थोंका, केवलीका, देवेन्द्रोंका, नरेन्द्रोंका, चक्रवर्ती बलदेव आदिककी शक्तियोंका वर्णन है, और सम्यक्त्वका भी उसीमें लक्षण है, जिससे आत्मशक्तिका भी वर्णन चलता है। चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद है, जिसमें ५ अस्तिकायोंका वर्णन है। नयोंका अनेक पर्याय भंगोंके रूपसे वर्णन है। अस्तिनास्ति और भी अनेक भंगोंसे जहाँ पदार्थोंका वर्णन किया हो वह अस्तिनास्तिप्रवाद है। छहों द्रव्योंका भाव और अभावकी विधिसे दोनों नयोंकी विवक्षासे वहाँ निरूपम होता है वह अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व है। ५वाँ ज्ञान प्रवाद पूर्व है। पांचों प्रकारके ज्ञानोंका कैसे उत्पाद होता, क्या विषय है? ज्ञानी और अज्ञानी

जीवोंकी इन्द्रियोंका कैसा उपयोग है, इन सब बातोंके समाधानसे जिसमें विवेचना है वह ज्ञान प्रवाद पूर्व है। छठा सत्यप्रवादपूर्व है। इसमें सत्यका निरूपण है अर्थात् सत्य वचन कितने प्रकारके होते हैं? उनमें किस-किसका परिहार है? १२ प्रकारकी भाषायें हैं, १० प्रकारके सत्य हैं, इन सबका जहाँ वर्णन है वह सत्यप्रवाद है। वचन निकलनेके साधन कौनसे हैं? वे ही संस्कारके कारण कहलाते हैं। जैसे सिर, कंठ तालू, ओंठ, मूर्धा आदिक ये ८ साधन होते हैं, उनका भी वर्णन है सत्यप्रवादपूर्व में। वचनोंका प्रयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारसे होता है। सो यह भाषा १२ प्रकारकी है। इसमें भली और बुरी सभी आती हैं।

जैसे एक आव्याख्यान भाषा है याने हिंसा आदिक क्रियावोंको करने वाले विरक्त अथवा देशसंयमीमें यह इसका कर्ता है इस प्रकारकी जो बोल-चाल है वह आव्याख्यान है। कोई कलह करनेकी भाषा, कोई चुगली करनेकी भाषा, पीठ पीछे दूसरेके दोषको बखानना, यह वैशून्य भाषा है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गए हैं। इससे सम्बंध रखने वाली वाणी सम्बद्ध वाणी कहलाती है और इससे हटकर जो भी बोलता है वह असम्बद्धप्रलाप कहलाता है। प्रीति उत्पन्न कराये, ऐसी वाणीको इतिवचन बोलते हैं, और उन्हीं शब्दादिक विषयोंको अरति उत्पन्न कराये वह अरतिवाणी है। जिन वचनोंको सुनकर परिग्रहकी कामनायें, रक्षा आदिकमें आसक्ति बने वह उपाधि वचन है। वाणिज्य व्यवहारमें जिसको निश्चय करे, कुछ मायाकी ओर आत्मा झुके वह विकृति वाणी है। जिसको सुनकर तप ज्ञानमें अधिक पुरुषोंके प्रति भी प्रमाण करनेकी बुद्धि न जगे, न प्रणाम करे वह अप्रणति वचन है। जिसको सुनकर चोरीमें दृष्टि जाये वह स्तेय वचन है। जिसको सुनकर समीचीन मार्गमें बुद्धि जाये वह सम्यग्दर्शन वचन है और अमार्गमें दृष्टि जाये जिस वचनको सुनकर वह मिथ्यादर्शन वचन है। ऐसी १२ प्रकारकी भाषायें होती हैं। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन सत्यप्रवाद पूर्वमें है। इसी तरह वक्ता भी अनेक हुआ करते हैं। किसीके बोलेनेकी स्थिति प्रकट हुई है, किसीके नहीं हुई है, ऐसे अनेक लोग हैं, असंजी जीव हैं, संजी जीव हैं। दो इन्द्रियसे पहले तो वक्तृत्व शक्ति होती ही नहीं। वहाँ भाषा नहीं निकलती। तो जिन जीवोंके भाषा सम्भव है उन जीवोंकी विशेषतायें भी कही हैं। इस प्रकार नाना प्रकारके असत्य वचन होते हैं उनका वर्णन इस सत्यप्रवादपूर्वमें है, और १० प्रकारके सत्यवचन हुआ करते हैं उनका वर्णन इस सत्यप्रवादपूर्वमें है। जैसे नामसत्य, व्यवहार रखनेके लिए नाम रख दिया वह नामसत्य है। जैसे किसीका नाम इन्द्री रख दिया तो इन्द्री तो नहीं हैं, पर नामकी दृष्टिसे इन्द्र ही है, उसी नामको कहकर लोग बोलते हैं, यह नामसत्य है। कोई रूपसत्य होता है। जैसे पदार्थ तो नहीं है, फिर भी केवल रूप मात्रसे ही कहा जाता है। जैसे फोटो है सामने किसीके तो वह आदमी नहीं है, वह जीव नहीं है, वहाँ तो केवल कागज है, स्याही है, पर रूपको देखकर यह बता देना कि यह अमुक आदमी है, यह रूपसत्य है। एक स्थापनासत्य होता है। पदार्थ तो नहीं है, पर किसी प्रयोजनके लिए उसमें स्थापना कर दे वह स्थापनासत्य है। जैसे धर्मसाधनाके लिए प्रभुकी मूर्तिकी स्थापना की, वह स्थापनासत्य है। दिल बहलानेके लिए काठ पत्थरकी बोटोंमें यह वजीर है, राजा वजीर है, राजा है आदिक मान लेना स्थापनासत्य है। कोई वचन प्रतीतिसिद्ध होते

हैं, याने जो भावोंका विश्वास कर, प्रतीति कर जो वचन बोले जाते हैं वह प्रतीतसत्य है। कोई सम्वृतसत्य होता है। जैसे लोकमें जो कल्पनायें करके लगाये गए वचन हों, जैसे कमलको पंकज कहते जिसका अर्थ होता है कीचड़से उत्पन्न हुआ। तो क्या कमल केवल कीचड़से उत्पन्न हो जाता? पृथ्वी कारण है, बीज कारण है, पानी कारण है, फिर भी लोकमें ऐसी ही प्रसिद्धि है, कल्पना है उससे यह नाम बोला जाता है। कोई संयोजनासत्य होता है। याने चेतन-अचेतन पदार्थोंका उस-उस ढंगसे रखकर फिर उस आकारमें कोई एक बात मान ली, वह संयोजनासत्य है।

जैसे चक्रव्यूह अन्यव्यूह आदिक मान लेते हैं, या धूप चूर्ण आदिकमें कहते कि जो यह अमुकका चूर्ण है यह पाचन चूर्ण है, यह सब संयोजनसत्य है। कोई जनपदसत्य होता याने धर्म, अर्थ, काम मोक्षकी प्राप्ति करा देने वाला जो वचन है वह जनपदसत्य होता। कोई देशसत्य होता, याने ग्राम नगर राजगण अथवा जाति कुल आदिक धर्मोंका उपदेश करने वाला जो वचन है वह देशसत्य होता। कोई भावसत्य होता याने संयमी या संयमासंयमी जीव अपनी गुणवृत्तिका परिपालन करते रहें, इसके लिए जो ऐसा कहा जाता, यह प्रासुक है। यह प्रासुक है ऐसा छद्मस्थ ज्ञान तो नहीं हो सकता कि यह प्रासुक ही है या यह अप्रासुक ही है? सूक्ष्म रीतिसे नहीं जान सकते। फिर भी जाना समझा जितना व्यवहार है और प्रयोग है, परिहार है उस माफिक कहना सो भावसत्य है, एक वचन है, समयसत्य, याने द्रव्यपर्यायोंका जैसा स्वरूप है वैसा स्वरूप बतलाना सो समयसत्य है। इस तरह अनेक प्रकारकी भाषाओंका सत्यका जहाँ वर्णन हो वह सत्यप्रवाद पूर्व है। ७वें पूर्वका नाम है आत्मप्रवाद। इस पूर्वमें आत्माके अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिक धर्मोंका युक्तिपूर्वक वर्णन है, याने आत्मा कर्ता है या नहीं? है तो किसका कर्ता है? नहीं है तो किस प्रकार? ऐसे ही सभी धर्मोंका युक्तिपूर्वक वर्णन है और इस ही पूर्वमें समस्त जीवभाव का वर्णन है। ८वाँ पूर्व है कर्मप्रवाद। कर्मोंके बंध, उदय, उपशम, निर्जरा ये परिणमन कैसे हैं, किस प्रकार होते हैं और उनके अनुभाग प्रदेश किस प्रकार होते हैं, स्थिति जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट कहाँ किस तरह बनती है, किन-किन जीवोंकी कौन-कौनसी प्रकृतियोंका बंध उदय आदिक है, आदिक वर्णन इस पूर्वमें किया गया है। ९वें पूर्वका नाम है प्रत्याख्यानपूर्व व्रत, नियम, प्रतिक्रमण आदिक आचारों का, प्रायश्चित्त शुद्धि आदिकका तथा नियमसे यमसे कुछका सर्वथा द्रव्योंका त्यागका जहाँ वर्णन किया गया है वह प्रत्याख्यान बात पूर्व है। १०वाँ पूर्व है विद्यानुवाद। इसमें छोटी-बड़ी सभी विद्याओंका वर्णन है और उन विद्याओंका विषयभूत क्षेत्र, क्षेत्री, संस्थान, समुद्धात आदिकका वर्णन है। लघु विद्यायें होती हैं ७०० और रोहणी आदिक महाविद्यायें होती हैं ५००। महानिमित्त जिससे कि भविष्य का भी ज्ञान कर लिया जाता है वे अनेक प्रकारके हैं। उनका वर्णन इस पूर्वमें किया गया है।

जैसे आकाशमें कोई नक्षत्र आदिक देखना, स्वर सुनकर भविष्य जानना, स्वप्न देखकर जानना, शरीर पर मसा, तिल आदिक चिन्होंको देखकर जानना, यह सब वर्णन इस पूर्वमें है तथा उन महानिमित्तोंका विषय, क्षेत्र, लोक आदिकका इसमें वर्णन है। यह लोक तीन भागोंमें विभक्त है ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक। इन सब लोकोंका मध्य भाग है मेरुपर्वतकी जड़के नीचे ८

प्रदेश। वहाँसे विभाग होता है। जो नीचे है सो तो अधोलोक है और उस मेरुपर्वतकी जड़से लेकर शिखर पर्यन्त मध्यलोक है और उससे ऊपर ऊर्ध्वलोक कहलाता है। ऊर्ध्वलोकमें स्वर्ग ग्रैवेयक अनुदिश, अनुत्तर आदिक विमानोंकी रचना है, जिसमें देव रहते हैं। उससे ऊपर सिद्धशिला है और उससे ऊपर सिद्धलोक है, जो लोकके अंतमें है। जहाँ सिद्धभगवान विराजे रहते हैं। मध्यलोकमें अनेक द्वीप समुद्र आदिक रचनायें हैं। अधोलोकमें प्रथम तो इस पृथ्वीके दो भागोंमें नीचे भवनवासी और कुछ व्यन्तरोका निवास है। उसके नीचे भागमें पहला नरक है, उससे नीचे ६ पृथ्वियाँ और हैं, दूसरे तीसरे आदिक नरक हैं। यह सब वर्णन इस सूत्रमें किया गया है। जीवोंके प्रदेशमें बस इस संसारमें देहके बराबर हैं अर्थात् देह जितने तक फैला है वहाँ तक ही यह जीव फैला हुआ है, पर कुछ कारण होते हैं ऐसे कि जो देहसे बाहर भी आत्माके प्रदेश हो जाते हैं, इसे कहते हैं समुद्घात। ये समुद्घात ७ प्रकारके होते हैं। किसी प्राणीको कोई कठिन रोगादिक हो जाये तो उस बेचैनीमें वे प्रदेश बाहर होते हैं और कदाचित् जहाँ कोई औषधि रखी हो वहाँ तक प्रदेश पहुंच सकें तो उसका सम्बंध इस जीवके आरोग्यका कारण भी बन जाता है। तो वेदनाकृत है यह समुद्घात। इसका नाम वेदनासमुद्घात है। किसी सामर्थ्यको किसी दूसरेके कारण कठिन क्रोध आ गया, इस समय कषायसमुद्घात होता है अर्थात् जीवके प्रदेश शरीरसे कुछ बाहर हो जाते हैं। जब किसी जीवका मरणकाल होता है तो किसी-किसीके जिसको कि एक सीधी गतिमें जैसे नरक या कहीं सीधी गतिमें श्रेणीमें कोई जन्मस्थान हो तो मरणसे पहले वहाँ तक प्रदेश छू आते हैं और फिर वापिस होकर देह बराबर रहकर मरण हो जाता है उसका भला हो जायेगा। दाहिने कंधेसे तैजस शरीर निकलेगा और किसीका अगर दुर्भाग्य है और उसपर क्रोध आ गया तो बायें कंधेसे तैजस शरीर निकलता है और सबको भस्म कर देता और खुद भी भस्म हो जाता है। विक्रियासमुद्घातमें भी जीवके प्रदेश बाहर हो जाते हैं।

जैसे देव कोई रूप धरना चाहता है, दूर जाना चाहता है, समवशरणमें आ रहा है तो उनका मूल शरीर तो वहीं रहता है, पर विक्रियाका शरीर आया करता है। तो मूल शरीरमें भी जीवप्रदेश हैं और रास्तेमें सर्वत्र जीवप्रदेश हैं, तो यह उनका वैक्रियकसमुद्घात है। देव अपने शरीरसे भिन्न अनेक रूप शरीर धारण कर सकते हैं। नारकी जीव अपने शरीरका कुछसे कुछ रूप बना लें, वे अनेक शरीर नहीं बना पाते। जिनकी जैसी योग्यता है उस योग्यतानुसार जो उत्तर शरीर बनता है वहाँ जीवके प्रदेश बाहर जाते हैं। वह वैक्रियकसमुद्घात है। एक होता है आहारकसमुद्घात। जिसके आहारकऋद्धि; उत्पन्न होती है ऐसे महामुनिके कोई तत्त्वशंका हो या क्षेत्रवंदनाका भाव हो तो उनके मस्तकसे एक हाथका शुक्ल वर्णका पुतला निकलता है और यह तीर्थकरके क्षेत्रवंदना आदिक करके, दर्शन करके वापिस आ जाता है। शंका उत्पन्न हुई हो तो सीधा तीर्थकर केवलीके दर्शनको वह आहारक शरीर जाता है। दर्शन करते ही शंका दूर हो जाती है और फिर आहारक शरीर वापिस आ जाता है। एक समुद्घात है केवलीसमुद्घात। जब केवलीभगवानके वेदनीय नाम गोत्र ये तो रह जायें बहुत स्थितिमें और आयु हो अल्प स्थितिकी तो उस बड़ी स्थितिको आयुके बराबर करनेके लिए बाहर प्रदेश

निकलते हैं, और पहले दंडाकार लोकके १४ राजू प्रमाण फैलते हैं, फिर कपाटके आकार अगल-बगल फैलते हैं, फिर प्रतराकार चारों तरफ हो जाते हैं, फिर जो वातवलय बचती है वहाँ प्रदेश फैल जाते हैं। फिर इसी विधिसे संकुचित होता है और फिर शरीरमें सर्व प्रवेश कर जाते। सभी समुद्घातोंमें मूल शरीरोंको प्रदेश बिल्कुल नहीं छोड़ते, किन्तु वहाँ रहते हुए फैला करते हैं। इस तरह इन समुद्घातोंका वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमें है। ये समुद्घात शरीरसे बाहर प्रदेश भरमें होते हैं, पर आहारक समुद्घात और मारणांतिक समुद्घात ये एक दिशामें ही जाते हैं। मारणांतिक समुद्घात भी अन्य क्षेत्रवर्ती जीवोंके नहीं होता, इसलिये वे एक दिशामें गमन करते हैं। शेष ५ समुद्घात चारों तरफ फैलते हैं। इन समुद्घातोंका समय संख्यात समय है, किन्तु केवलीसमुद्घात केवल ८ समय होता है। इसी विद्यानुवाद पूर्वमें सपनोंका भी वर्णन है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्रकी चालसे सही और विपरीत हल आदिकका ज्ञान हो, इस विषयका भी वर्णन इस विद्यानुवाद पूर्वमें है। तीर्थकरोंके पंचकल्याणक आदिकका वर्णन है। ११वाँ है प्राणानुवाद पूर्व। इसमें आयुर्वेदका वर्णन है। कैसी चिकित्सा है, आयुर्वेदके ८ अंग होते हैं। इन सबका इसमें विस्तारपूर्वक वर्णन है। क्रियाविशाल पूर्वमें सब कलाओंका वर्णन है।

जैसे ७२ कलायें, ६४ कलायें, शिल्पविद्या, काव्य, गुण दोष, क्रिया, छंद रचना और इन सबके करने वालोंके फलका सब कुछ व्याख्यान इस क्रियाविशालपूर्वमें है। लोकबिन्दुसारमें गणितोंके और अनेक क्रियाओंके तीन विभाग बताये गए हैं। इस तरह १२ अंगोंमें नाना प्रकारके विषयोंका वर्णन है, जिसके पारगामी बड़े ऋद्धिसम्पन्न मुनिराज होते हैं। इस अंगसे अतिरिक्त याने इसके ही अनुसार इसके विभाग बनाकर जो आचार्य आदिककी ग्रन्थरचना है वह सब अंगबाह्य है। यहाँ श्रुतज्ञानसे मतलब आगमज्ञान और मतिज्ञानके अनन्तर होने वाले अन्य भी अर्थान्तरके ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते हैं। अनुमान, उपमान अर्थापत्ति आदिकका भी अन्तर्भाव इस श्रुतज्ञानमें हो जाता है। यह श्रुतज्ञान इस आत्माके कल्याणका बीज है। श्रुतज्ञानके बलसे ही सर्वतत्त्वोंका निर्णय कर, फिर सबसे विविक्त अपने आत्माके सहज चैतन्यस्वरूपकी आराधना कर समाधिभावको प्राप्त होता है। सर्वविकल्पोंका परिहार कर एक चित्स्वरूपका ही आराधन रहता है। उस समाधिके बलसे सर्व प्रकारके कर्मोंका क्षय हो जाता है, परमात्मा हो जाता है। तो यह श्रुतज्ञान पवित्र है। इसी कारण सरस्वतीपूजा आदिकके रूपमें इस श्रुतकी उपासनाकी प्रेरणा दी गई है। यहाँ तक वस्तुस्वरूपके जाननेके उपायोंके प्रसंगमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानका वर्णन किया। अब परोक्षज्ञानके वर्णनके बाद श्रुतज्ञानका वर्णन आयेगा, और जिसमें सर्वप्रथम अवधिज्ञानका वर्णन चलेगा।

॥ मोक्षशास्त्र प्रवचन अष्टम् भाग समाप्त ॥